साहित्येतिहास सिद्धान्त एवं स्वरूप

डॉ॰ विजय शुक्ल

साहित्येतिहास
सिद्धान्त एवं स्वरूप

डॉ० विजय शुक्ल

स्मृति प्रकाशन
१२४, शहराराबाग, इलाहाबाद—२११००३

आदरणीय गुरुवर
डॉ० धर्मवीर भारती
के लिए

दो शब्द

'साहित्येतिहास : सिद्धान्त एवं स्वरूप', एक नये विषय पर लिखी गयी यह किताब, साहित्य के अध्येताओं के हाथों में प्रस्तुत कर रहा हूँ। प्रत्येक सर्जक अपने समसामयिक मूल्यों को जीता है और अपने सृजन में, युग-मूल्यों को छोड़ जाता है। सर्जक के जीवनानुभव एवं युगीन जीवन-मूल्यों को उसकी कृतियों में खोजना और सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समझना साहित्येतिहासकार का मूल धर्म होता है।

आज प्रचार-नीतियों के कारण महान् सृजन की महत्ता घट रही है। कभी-कभी आलोचकों की वाद-दृष्टि के घेरे में आकर घटिया रचनाएँ महान् बन जाती हैं और महान् रचनाएँ घटिया। आलोचना आज प्रचार का हथियार बन गया है। इसीलिए आलोचना को अपनी पहिचान की जरूरत है ताकि इतिहास-लेखन के नैतिक उद्देश्य व यथार्थ स्तर को धक्का न पहुँचे। प्रगतिशील लेखकों का एक ऐसा समुदाय हावी हो जाना चाहता है कि मानों साहित्य में उनकी सृष्टि के अलावा और कुछ नहीं है। इनकी संगठन-चेतना राजनीति-प्रेरित है।

मैंने कुछ ही विषयों को इस किताब में चुना है। अभी इस कार्य को सम्पूर्ण नहीं मानता हूँ। साहित्येतिहास-लेखन को रचनाधर्मिता, समसामयिक जीवन्त-चेतना से जोड़ा जा सके, तभी सही समझ का विकास हो सकता है। आज तक जितना शोध हुआ है, क्या साहित्येतिहास-लेखन में आत्मसात् हुआ है ? यह भी सोचने की बात है।

—विजय शुक्ल

हिन्दी विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय
जबलपुर (म० प्र०)

अनुक्रम

साहित्येतिहास में आलोचना की भूमिका

साहित्य के अध्ययन की पद्धति व प्रणाली के रूप में साहित्येतिहास को मान्यता की जानी चाहिये। साहित्य का सृजन सृष्टा के एक युग-विशेष में होती है। वह अपने युग के मूल्यों का उत्तम भोक्ता होता है। सर्जक अपने क्षण मूल्यों में से कुछ स्थायी मूल्य भी अपनी कृति में छोड़ जाता है। आधुनिक-वैज्ञानिक आविष्कारों से पूर्व कृति-लेखन व रचना-सृजन में, सर्जक के उद्देश्य भी आज की तुलना में निश्चय ही अंतर रखते होंगे। आज मुद्रण-यंत्रों की प्राप्त सुविधा के कारण प्रकाशन का आधुनिक अर्थ भी है, किन्तु बहुत-पूर्व हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की सीमित प्रतियाँ होती होंगी तथा उन कृतियों के पाठकों की संख्या भी कम हो रही होंगी। यही कारण है कि सर्जक सृजन का सुख ही आत्मानन्द तुल्य समझकर सब कुछ पा लेता रहा होगा। कोई कोई सर्जक संपूर्ण जीवन साधनारत् होकर केवल पाण्डुलिपि छोड़कर चला जाता रहा होगा।

आधुनिककाल के पूर्व का साहित्य आज के वैज्ञानिक युग में अप्रकाशित ही माना जायगा। कुछ व कतिपय कृतियों को छोड़कर, अनेक मुखाग्र होकर कवि के यश को युग-युगों तक चलाये, चलती रही होंगी। यदि आधुनिक युग-पूर्व की कृतियों को प्रकाशित कहेंगे तो 'प्रकाशन' का अर्थ भी भिन्न रूपों में होगा। यह अधिक संभव है कि कोई कृति जिस किसी भी युग में लिखी गई हो और अनेक शताब्दियों बाद उसका प्रकाशन हुआ हो और तब प्रकाशन युग के पाठकों की रुचि का विषय बनकर इतिहासज्ञों के ध्यानाकर्षण की वस्तु बनी हो। यह संभव होने पर भी, अनिवार्य होगा कि किसी भी युग में लिखित पाण्डुलिपि का जब भी प्रकाशन हुआ होगा, उसे उसके रचनाकाल के खाते में ही रखा जायगा। आज के वैज्ञानिक युग में शोध द्वारा उसकी ऐतिहासिकता देखी व समझी जायगी, तब जाकर स्थान-निर्धारण होगा। यह भी संभव है कि उक्त कृति ने अपने युग में भले ही किसी दस पाठक को भी न प्रभावित किया हो और यह भी हो सकता है कि वर्तमान के पाठक को मूल्यवान कृति प्रतीत हुई हो। चूँकि कवि अपने जीवन-काल के युग सत्य का द्रष्टा होता है, इसलिए

अपने समसामयिक रचनात्मक प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित होकर ही अपना पथ-संधान करता है, उसके प्रदेश व देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियाँ, अन्य समकालीनों जैसी एक सी होती हैं, यद्यपि खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया भी होती है, किन्तु मूल्यों में समानता होती है। रचनाकारों के समकालीन मूल्य एक जैसे ही होते हैं, भले ही उनके देखने व समझने के कोण (Angle) भिन्न हों। जब चिंतन धारा की एक ही दिशा, एक समय विशेष में परिलक्षित होती है, तो सामान्यतः साहित्येतिहासकार काल-विशेष या युग-विशेष के रूप में उसे वर्गीकृत कर देता है।

रचनाकार के सृजन के उद्देश्यों व 'आशयों' का अध्ययन साहित्येतिहास का कार्य है ? वारॅन तथा वैलेक द्वारा उठाया गया प्रश्न उन्हें व्यर्थ प्रतीत होता है। उनके अनुसार "कला-कृति की अर्थवत्ता उसके आशय के साथ नहीं चुक जाती और न केवल आशय को कलाकृति का अर्थ माना जा सकता है। एक मूल्य प्रणाली के रूप में कलाकृति का अपना एक स्वतंत्र जीवन होता है। किसी कलाकृति का संपूर्ण अर्थ मात्र, लेखक या उसके समकालीनों के लिए जो अर्थ था, उसी तक, सीमित नहीं किया जा सकता।[1]" उक्त विद्वान को संभवतः शंका है कि 'आशयों' के मात्र अध्ययन की सीमा मानकर साहित्येतिहास अपने कार्य को अधूरा न बना दें। साहित्येतिहास 'आशय' को भी अपने कार्यों में से एक कार्य के रूप में स्वीकृति दे तो आपत्ति क्यों ? यह सही है कि कृति का अपना स्वतंत्र जीवन होता है और व्यक्तित्व भी होता है। रचना की प्राणवत्ता ही उसे किसी भी युग के वर्तमान में जीवित रखती है। अतएव अर्थ व आशय को समकालीनता की सीमा में समझने की आवश्यकता भी नहीं। जनमानस या जन की सामान्य चित्तवृत्तियों का संश्लेषण-विश्लेषण या जनरुचियों की दशाओं के अभाव में, कोई महत् या लघु रचना अपने युग-सत्य से पृथक प्रतीत होगी। अतएव आवश्यक है कि युग-सापेक्ष्यता के संदर्भ में युग-मानव के विविध मूल्यों का अंकन साहित्येतिहास में हो ताकि सिद्ध हो सके कि रचना के सर्जन का औचित्य क्या था ! वारॅन एवं वैलेक के आशय को औचित्य से सम्बद्ध होना चाहिये था। शुकिंग का भी मत यही है कि 'जन रुचियों' के दिग्दर्शन के प्रस्तुती-करण को साहित्येतिहास का आवश्यक गुण माना जाना चाहिये। इस संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि सर्जक भले ही प्रख्यता कथावस्तु के माध्यम से अतीत के युग में अपने उभरे हुए बिम्बों द्वारा सजीव चित्र प्रस्तुत करता है किन्तु उसका समसामयिक युग या युग-दर्शन का आरोपण होता ही है। सर्जक के लेखन का मूलतः उद्देश्य ही होता है कि समसामयिकता

को संजीवित किये रहना। सर्जक के चिन्तन के केन्वास में केवल उसकी समसामयिक-युग की चेतना ही होती है।

साहित्येतिहास की समस्याओं में प्रमुख प्रश्न उठता है कि प्रसिद्ध व ख्यातनामा साहित्यकारों को ही इसके अध्ययन में महत्व क्यों दिया जाता है। गौण लेखकों को उपेक्षित कर उन्हें लब्ध-प्रतिष्ठि के साथ पचा दिया जाता है। यह एक प्रतिक्रिया एवं अवैज्ञानिक पूँजीवादी प्रक्रिया है क्योंकि उसे (किसी भी साधारण को भी) मनोनुकूल लेखक को यदि महत्व देना है तो वह प्रवृत्तिबोधक व्यक्तित्व बना सकता है। इसी प्रकार किसी भी साधनापरक लेखक को गौण स्थान देकर उसे उसके औचित्य से वंचित कर सकता है। किन्तु यह उस साहित्येतिहासकार द्वारा संभव हो सकता है जो आलोचक अधिक होकर अपने वर्तमान कृती-लेखकों पर अपनी स्वतंत्र व पृथक दृष्टि रखता हो किन्तु अपने पूर्व के युगों व कालों के लिए वह असंपृक्त हो सकता है, बशर्ते किसी संप्रदाय विशेष की काव्य-धारा या कवि-विशेष के प्रति उसका पूर्वग्रह न हो। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर आरोप लगाया जाता है कि वे 'सगुण वाद' की 'वकालत' करने में अधिक पक्षधर हो गए हैं।

आज के हिन्दी साहित्येतिहास में बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति है। आधुनिक-काल वादों का साहित्येतिहास अधिक है। प्रवृत्तियों के अध्ययन के नाम पर वादों का ही घटाटोप होता है और श्रेष्ठ कृतियाँ साहित्य की सीमा-क्षेत्र में उपेक्षित होकर भविष्य के समान-धर्मा के लिये पड़ी रह जाती हैं। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि साहित्येतिहास में वे कौन से प्रतिमान स्वीकृत किये जायें कि गौंण लेखकों को भी मान्यता मिल सके। प्रवृत्ति विश्लेषण के साथ साहित्येतिहासकार सामान्य की दिशा स्वीकारे, विशेष की नहीं। 'छायावाद' के अंतर्गत चार कवियों के अध्ययन में संपूर्ण प्रवृत्ति के समझने की स्थिति पूर्ण नहीं मानी जानी चाहिये। प्रचारवादी दृष्टिकोण साहित्येतिहासकार को अप्रभावित रखे तो वह अधिक ईमानदार होगा। किसी को बड़े प्रकाशक मिलें तो वह खूब प्रचार करवा सकता है और जिसे न मिले तो साहित्येतिहास से उठ जाय, यही नहीं होना चाहिये। इस संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि सर्वप्रथम रचना-कृति को उसके युग के कोण या ऐसे वातायन से देखना उचित होगा और फिर बदलते हुये अनेक युगों के मूल्यों के भिन्न कोणों से देखना होगा। इस प्रक्रिया से स्थायी मूल्यों का बोध ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में सहज किया जा सकता है। वैलेक एवं वारॆन, यही कारण है

कि साहित्येतिहास के लिये सापेक्षतावाद को उचित नहीं मानते क्योंकि वह इतिहास को विच्छिन्न टुकड़ों की एक कड़ी बनाकर रख देता है। इसी प्रकार 'निरपेक्षतावाद' या तो चिर परिवर्तनशील वर्तमान को प्रस्तुत करते हैं या ऐसे गैर साहित्यिक अमूर्त्त आदर्श पर आधारित होते हैं (जैसे नव्य मानवतावादी, मार्क्सवादी और नव्यवादी मानक्) जो साहित्य के ऐतिहासिक वैविध्य के प्रति उचित न्याय नहीं कर पाते। वैलेक एवं वारॅन ने अपनी इस असहमति के पश्चात् 'परिप्रेक्ष्यवाद' का मत-स्थापन किया है कि हम मानकर चलें कि युगों की कविता या साहित्य ही है जो निरंतर विकसित होता जा रहा है, बदलता जा रहा है और जिसके आगे अनन्त संभावनायें पड़ी हैं। 'परिप्रेक्ष्यवाद' के संदर्भ में वारॅन एवं वैलेक कविता या साहित्य को एक समूची इकाई के रूप में स्वीकारते हैं इसलिये उनकी मान्यता है कि 'कृतियों की लड़ी' नहीं बनाई जा सकती और युग-विभाजन या काल-विभाजन करके कृतियों की आतंरिक एकता को विखंडित नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से वारॅन एवं वैलेक साहित्येतिहास-लेखन की संभाव्यता पर संदेह प्रगट करता है ? क्योंकि उनके अनुसार वह साहित्येतिहास न होकर समाज-शास्त्र व विचार चिंतनों का इतिहास बन जाता है। साहित्येतिहास में किसी एक पक्ष विशेष की दृष्टि से किये अध्ययन की प्रधानता के कारण उसका मूल्य व विधागत गुण नष्ट प्राय हो जाता है, तभी साहित्येतिहास कम होकर संस्कृति का इतिहास, समाज-शास्त्र का इतिहास या राजनीतिक, धार्मिक विचारों का इतिहास अधिक हो जाता है। मेरे अनुसार साहित्येतिहास के लिये समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक, राजनीतिक व धार्मिक विचार मात्र दृष्टि बन सकते हैं। वह भी कवि या साहित्यकार की कृति अध्ययनार्थ एवं विषय अध्ययन की सुगमता के लिये मात्र पाथेय है, मूल स्थिति में साहित्य ही अभिप्रेत है। साहित्येतिहास का किन्तु यह भी विचारणीय है कि किसी कृतिकार का जीवन, समाज-संस्कृति, राजनीति व धर्म से पृथक नहीं होता, वह समसामयिकता इन्हीं विषयों के बीच में

---

१. "Is it possible to write literary history, that is, to write that which will be both literary and history ? Most histories of literature, it must be admitted, are social histories of thought, as illastrated in literature, or impression a judgement on specific works arranged in more or less cronological order.

रहकर पाता है, अतएव साहित्य-सृजन में स्थायी मूल्यों का निर्धारण वह समसामयिकता के कारणवश ही पाता है। इस प्रकार, दोनों पक्षों के देखने पर यह स्पष्ट है कि साहित्येतिहास की पृथक स्थिति होनी चाहिये।

वारॅन एवं वैलेक ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न रखा है कि साहित्येतिहास लेखन बिना किसी सिद्धांत पर आधारित हो, लिखने की चेष्टा उन आलोचकों का प्रयास है जो साहित्येतिहास में आलोचना का होना आवश्यक नहीं मानते। उक्त विद्वान ने स्पष्ट कहा है कि साहित्य के इतिहासकार, जो आलोचना का महत्व अस्वीकार करते हैं, अवचेतन रूप से स्वयं भी आलोचक हुआ करते हैं, आमतौर पर ये उपजीवी आलोचक हुआ करते हैं जो परंपरागत मानकों और कीत्तियों को बिना किसी तर्क-वितर्क के स्वीकार लेते हैं।[1] इस कथन की पुष्टि उन्होंने 'स्वच्छदंतावादी' प्रवृत्ति के आलोचकों पर आरोपित करते हुए की है कि जो अन्य सभी कलाओं से खास तौर से आधुनिक साहित्य से आंख मूंद लेते हैं। यह साहित्येतिहासकार के रूप में आलोचक की समझौतावादी प्रवृत्ति निश्चय ही घातक है क्योंकि उसमें मूल्यों के प्रति समर्पित हो जाने के कारण उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता है किन्तु इसी प्रश्न में से एक नया प्रश्न उठता है कि यदि इतिहासकार आलोचक भी हो और उसके पश्चात् उसमें मूल्य निर्धारण की क्षमता हो, उसके अपने प्रतिमान हों (जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), वह शास्त्रीय हो, परंपरावादी हो तो क्या इतिहास को क्षति वह नहीं पहुँचायेगा? कहीं न कहीं उसकी शास्त्रीयता साहित्य की प्रवहमान गति को जड़ बनाने में क्या सहायक न होगा? इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि साहित्येतिहास में साहित्यिक चेतना को बनाये रखने में इतिहासकार का आलोचक बनकर शास्त्रीय पद्धतियों का आरोपण भी घातक है। साहित्येतिहास-लेखन में आलोचना की अपनी सीमायें होंगी। तो फिर उसमें वे क्या व कौन से गुण हों, जिनके समाविष्ट करने से साहित्येतिहास धुरीहीन भी न हो और अपने स्वयं में पूर्ण हो। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि साहित्येतिहासकार आलोचना के प्रतिमानों से रहित हो, वारॅन एवं वैलेक के

1—"ध्यान देने की बात है कि साहित्य का इतिहास, साहित्य का आलोचना-सिद्धांत नहीं, न वह पाठालोचन (Taxtual Criticism) है और न ही, वह भाषा का इतिहास है।" र० ना० श्रीवास्तव इतिहास लेखनः सिद्धांत एवं स्वरूप, शांतिनिकेतन से शिवालिक, पृ० ५७।

इस कथन पर पूर्णतया सहमत नहीं हुआ जा सकता कि साहित्य का इतिहास-कार आलोचना और सिद्धांत से बचा रहता है, बिल्कुल मिथ्या है, आलोचना एवं सिद्धांत का उतना ही पूरक रूप में महत्व स्वीकारा जा सकता है जितना कि साहित्येतिहास के अध्ययन पक्ष को पूर्ण बनाये रखने के लिये सांस्कृतिक व समाजशास्त्रीय अध्ययन को । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहित्येतिहास अध्ययन की विधा है और कृति अध्ययन के लिये वे सभी मानविकी विषय की आवश्यकता हो सकतीं है जो मानव जीवन के अध्ययन के लिये अनिवार्य हो। वारॅन एवं वैलेक के इस कथन पर मेरी आंशिक सहमति है कि इतिहासकार बने रहने के लिये जरूरी है कि वह साथ ही आलोचक भी हो।

साहित्येतिहास और समसामयिक मूल्य

साहित्य-सृजन के मूल उत्स में कृतिकार अपनी समसामयिकता की भूमि को ही आधार रूप देना चाहता है। साहित्येतिहास में 'दूसरे युगों' के मानदण्ड स्वीकार करने होते हैं क्योंकि युग सापेक्ष्यता से कृति का जीवन सम्बद्ध होता है। प्रश्न उठता है कि क्या साहित्येतिहासकार को लेखक के युग के अतीत में जाना चाहिये ? उन युगों के मूल्य या प्रतिमान अथवा युग-जीवन के आंतरिक स्त्रोतों से साहित्येतिहासकार को साक्षात्कार करना चाहिये ? इस दृष्टिकोण के लिये इतना कहना पर्याप्त है कि साहित्येतिहास के अध्ययन-पक्ष में सांस्कृतिक एवं राजनीतिक, सामाजिक इतिहासों के परिचय प्राप्त करने की अपेक्षा इस कारण भी है ताकि साहित्येतिहासकार रचना-कृति के युग के मानव-जीवन की संवेदना को रचना में प्रतिबिम्बित हुआ, दिखाये। 'साहित्य का इतिहास लेखक भी अन्य इतिहासकारों की भाँति पहले इतिहासकार हैं और बाद में साहित्य का आलोचक, भाषाविद् अथवा पाठालोचक ।' क्रोबे साहित्येतिहास में सम सामयिकता को ही प्रधान मानते हैं क्योंकि इतिहासकार के रूप में वर्तमान का स्वरूप ही उसके सम्मुख रहता है। लेसिंग का भी लगभग यही दृष्टिकोण है कि साहित्येतिहासकार अपने युग से विगत की ओर जाने में असमर्थ होता है इसलिये अपने लेखन में उसका अपना युग उसकी सीमा है। क्रोबे एवं लेसिंग के मतों में समसामयिकता का अधिक आग्रह है, इसलिये समकालीन मूल्यों की सीमा में साहित्येतिहासकार को अनुबद्ध कर दिया है, मेरा विचार है कि साहित्य का इतिहासकार विगत युग में उस युग-विशेष की कृतियों के माध्यम से जा सकता है। यही अंतर्दृष्टि का पक्ष साहित्येतिहास का अपना

निजी गुण बन जाता है। वारॅन एवं वैलेक साहित्येतिहास-लेखन को संभव मानने में शंकित है क्योंकि साहित्येतिहास के नाम पर सामाजिक इतिहास या साहित्य में प्रतिबिम्बित विचारों का इतिहास जिन्हें किंचित काल-क्रमानुसार व्यवस्थित कर दिया जाता है।''[1] इस विचार की परिपुष्टि के लिये उन्होंने टामस वार्टन हेनरी मार्ली, डबूल्य० जे० कोर्टहोप आदि के मतों को उद्धृत किया है। इसी संदर्भ में उनका कथन है कि अनेक इतिहासकार साहित्य को राष्ट्रीय या सामाजिक इतिहास के दृष्टांतों के लिये निरादस्तावेज मानते हैं, वहाँ इतिहासकारों का दूसरा वर्ग भी है, जो यह मानता है कि साहित्य प्रथमतः और मुख्यतः कला है, परन्तु लगता है कि वे इसका इतिहास लिखने में अपने को असमर्थ पाते हैं, जिसे प्रभावों से एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा करते हैं, परन्तु ऐतिहासिक विकास की किसी सच्ची अवधारणा का उनमें अभाव पाया जाता है। अपने इस कथन के साक्ष्य के लिये 'एडमण्डगास' द्वारा लिखित A short history of English literature (1897)—को आधार बनाया है कि इतिहासकारों के दावों के बावजूद भी 'आलोचनात्मक टिप्पणियों की एक शृंखला है, जिन्हें कालक्रमानुसार व्यवस्थित कर दिया गया है।' इसी प्रकार वारॅन एवं वैलेक ने ऑलिवर एल्टन (Oliver Elton) के 'सर्वे आफ इंगलिश लिटरेचर' का भी उल्लेख किया है, जो कि इंगलैन्ड के साहित्यिक इसिहास की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी गयी, किन्तु उसके सम्बन्ध में निष्कर्ष यह निकला कि वह इतिहास नहीं, आलोचना है या समीक्षा। इन विचारों को प्रतिपादित करते हुये वारॅन एवं वैलेक ने कहा है कि चूँकि साहित्य कलान्तर्गत है, अतएव उसके इतिहास के लिये समुचित प्रयत्न नहीं किया गया, परिणामस्वरूप उसका स्वरूप ही विकृत होते देखा गया है क्योंकि कला के मूल्यों व प्रतिमानों से हटकर इतिहास की सामग्री बन कर, अन्य विषयों की आवश्यकता व मूर्ति का साधन बनाकर रखने की योजना साहित्येतिहास की प्रकृति के विरुद्ध है। किन्तु 'कला' के संदर्भ में भी समस्या उठती है कि उसके अनेक भेद हैं, उस दृष्टि से साहित्य के कला के अन्य प्रकारों एवं प्रतिमानों के आधार पर नहीं देखा जा सकता है, न विकास बताया जा सकता है। इन सारे कथनों के उत्तर में कहा जा चुका है कि साहित्येतिहास के सम्बन्ध की शिकायतें इसलिये हैं कि साहित्य में जीवन, संस्कृति, समाज अथवा ज्ञान के विषय विवेचित होते हैं। वारॅन एवं वैलेक यह मान्यता है कि साहित्यिक

1—Theory of literature, Reni Wellek and Austin Wanen.
हिन्दी अनुवाद पृ० ३६

एक पूर्ण पिंड के समान इकाई है, विखंडित होने के संभवना नहीं है, इसलिये उसमें आंतरिक्त मानवीय गुणों की अखंडता को सत्य-रूप को 'प्रक्रिया' के रूप देखने की कलात्मक प्रणाली के विकास की आवश्यकता है, तभी साहित्येतिहास दिखना संभव भी है। इस विधा को बाह्योरोपित ज्ञान पद्धतियों से बचाना आवश्यक माना है। किन्तु मेरा मत है कि साहित्य के भीतर अखंड चेतना को अविरलता को समझने के पूर्व कवि की मानसिक दशाओं को भी समझना होगा। परिवर्तन की प्रक्रिया में आंतरिक रूप से बदलते हुये मूल्यों के विकास का दिखाना तो ठीक है किन्तु बाह्य भौतिक जीवन व समाज के प्रभाव से न तो कवि पृथक होता है और न तो उसका चरित्र आंतरिक मूल्य अपनी अमूर्तता के कारण अखंडता की स्थिति व सार्व भोमिक मानव-मूल्यों का विकास कैसे प्रस्तुत करेंगे ? यहां समन्वय के धरातल पर ही चिंतन करने की आवश्यकता है। साहित्य के आभ्यांतरिक चितरंन का एक जैसी प्रवहमान धारा को किसी न किसी बाह्य व भौतिक स्वरूपों के आवरण में ही दिखाना संभव हो सकेगा। मैं कह चुका हूँ कि यह विशेष चिंता की बात नहीं कि यदि साहित्येतिहास में अन्य विशेष तट अपनी पृथक सत्ता रखकर उसे उसके मूल धर्म से पृथक कर देते हैं, तो इसका लेखन कैसे संभव है ? प्रश्न करना ही असार्थक है। फिर अन्य आरोपित विषय के योगदान की महत्ता गुण-रूप में साहित्येतिहास में होना ही चाहिये। मान लीजिये मध्ययुगीन समाज की किसी कृति का अध्ययन करना है, उस कृति के चरित्र के मानवीय दृष्टि से तो देखेंगे ही, यह भी देखेंगे कि वह आकाशी व काल्पनिक चरित्र तो नहीं हैं, जो अपने समाज से, संस्कृति से अपने युग से कटा न हो। वस्तुतः साहित्येतिहास में कलात्मक मूल्यों के साथ उन सभी विषयों को भी स्वीकृति देनी होगी जो मानव-जीवन व चरित्र को प्रमाणित करें। साहित्येतिहास के अध्ययन में वे विषय एक मूल्य के रूप में होंगे न कि पृथक विषय के रूप में।

साहित्येतिहास समयानुक्रम में नियोजित आलोचनात्मक प्रशंसा एवं चरित मूलक रेखा-चित्र अथवा पुस्तकों के सूची-पत्र से कहीं कुछ अधिक अतिरिक्त महत्ता रखता है।[1] हडसन ने भी लगभग अन्य विद्वानों की भाँति साहित्ये-

---

1–xx for history something more regumned than a list of authors and this books and even then a cronologically arranged colleetion of biographical sketches critical appreciation. Hudson, an outline of English Literature, preface.

तिहास को देखा व समझा है। यह अवश्य मान्य है कि साहित्येतिहास में काल क्रमानुसार क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। यह एक परम्परा सी बन गयी है कि इतिहास के अनुसार स्वरूप में कृतियों को फिट कर दिया जाय। किन्तु युग-प्रवृत्तियों व सांस्कृतिक मूल्यों को व्याख्यायित करने से लेखक के युग व साहित्य की सापेक्षिकता को अन्योन्याश्रित कोणों से देखने की प्रक्रिया अनिवार्य गुण हो, तभी साहित्य में युग के मूल्यों के साथ ही आंतरिक जीवन की शाश्वति चेतना का परिदर्शन हो सकता है, इसलिये किसी एक पहलू से साहित्य का इतिहास लिखना निश्चय ही असंभव है। टेन ने हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर में स्थापना की है कि "जाति (Race) परिवृत्त (surrounding) और युग (Milieu) की विवेचना के माध्यम से ही किसी कृति या किसी साहित्य के इतिहास का पूर्ण प्रकाश डालना सरल है।" (डॉ० रवीन्द्र श्रीवास्तव द्वारा कृत प्रगतिशील आलोचना से उद्धृत) टेन के इस कथन में युग सापेक्षिकता, परिवेश व जाति-धर्म की पृष्ठिभूमि संबंधी विवेचना का तात्यपर्य मात्र प्रवृत्यात्मक अध्ययन से है। प्रो० नलिनलोचन शर्मा के मतानुसार इतिहास नामों की मात्र सूची नहीं है। वह केवल घटनाओं तथा तिथियों की सूची नहीं और साहित्यिक इतिहास भी लेखकों ऐसी तिथि मूलक तालिका नहीं, जिसमें उनकी कृतियों का विवरण और सारांश हो। साहित्यिक इतिहास तब तक नहीं लिखा जा सकता जब तक समृद्ध पुस्तकालय और सुव्यवस्थित सूची-पत्र न हो, किन्तु यदि साहित्यिक इतिहासकार चाहता है कि स्वयं उसकी कृति तिथि-मूलक सूची-पत्र से कुछ अधिक और भिन्न हो, तो उसे कार्य-कारण-संबन्ध और सातत्य का ज्ञान, सांस्कृतिक परिवेश का कुछ बोध और व्यवस्था में यत्किंचित प्रवेश हो।"[1] प्रो० शर्मा ने साहित्येतिहास में तालिका, घटनाओं एवं सूची वाले पक्ष को मात्र उपादान माना है। साहित्येतिहास में 'इतिहास' द्वारा स्वरूप (form) निर्धारित होता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन इस संदर्भ में उद्धृत करने योग्य है। वे उक्त सारे संदर्भों में उठे हुये प्रश्नों का समाधान करते हैं कि "साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि-काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार, समुदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राण-

1—साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ० ३३।

धारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं ।[1] डॉ० द्विवेदी की इस स्थापना से उन सारी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है जिनके लिये पश्चिम के विद्वान चिंतित हैं । वारॅन एवं वैलेक का प्रश्न यही है कि समाजशास्त्र या अन्य चिंतन-धाराएँ प्रमुख रूप में आच्छादित हो जाती हैं और साहित्येतिहास के अस्तित्व का इनके सम्मुख गौणता का बोध होने लगता है । जिस शाश्वत आन्तरिक मूल्य व चेतना की निरन्तरता के प्रति वे अधिक चैतन्य होकर साहित्य के इतिहास के मूल-धर्म से अलग होने की शंका प्रगट करते हैं, उसका उत्तर डॉ० द्विवेदी के कथन में मिल जाता है । कृतियाँ, कृतिकार या संप्रदायों के आचार्यों को निमित्त समझना चाहिए जो निरन्तर व शाश्वत साहित्यिक मूल्यों की व चेतना की धारा को मूर्त्त रूप में प्रवाहित करते हैं । निस्संदेह उक्त उपादानों को गौण रूप में स्वीकार करना होगा । साहित्यिक अखंड चेतना को प्रधान-रूप में स्वरूप एवं तथ्य (form and content) के बीच समन्वित होने पर ही कोई विधा अपने समूचे रूप में समझी जा सकेगी । डॉ० द्विवेदी के प्रतिपादन के व्यावहारिक पक्ष के संदर्भ में यह कहा गया है कि हिन्दी में इतिहास से अविरल एवं अविच्छिन्न धारा-प्रवाह के रूप में देखने की दृष्टि सर्वप्रथम डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी रचित 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' (सन् १९४२) में लक्षित होती है ।[2] साहित्येतिहास को आधुनिक अध्ययन की प्रणाली के रूप में स्वीकार करने वाले विद्वान केवल 'इतिहास दृष्टि' की महत्ता को श्रेष्ठ मानते हैं । के० विसेन्ट और क्लीन्थ इस मत के पोषक हैं कि 'इतिहास दृष्टि' के मूल आधार पर ही उसे प्रणाली होने की स्थिति को सिद्ध किया जा सकता है तथा साहित्य में प्रवहमान धारा की निरन्तरता का सहज बोध किया जा सकता है । यह कथन समीचीन वहीं तक है, जहां तक किसी धारा-प्रवाह-मूलक साहित्यिक चेतना को व्यवस्थित अध्ययन रूप देने की आवश्यकता हो । साहित्येतिहास को अध्ययन और व्यवस्थता के रूप में आबद्ध करने के साथ ही उसके भीतर प्रवृत्ति-चेतना की निरन्तरता बनाये रखना भी होगा, नहीं तो केवल एक पक्षीय दृष्टि होने पर केवल अध्ययन की जड़ता शेष रह जायगी । तथा केवल प्रवहमानता का ही दर्शन होगा । साहित्य की मूल चेतना का आलंबन मानव-प्राणी होता है और मानव-प्राणी का समूह, समाज का रूप होता है । इस प्रकार साहित्य में व्यक्ति

1—हमारे पुराने इतिहास की सामग्री अशोक के फूल ।

2—श्री रवीन्द्र सहाय श्रीवास्तव—प्रगतिशील आलोचना पृ० ८५ ।

और समाज तथा उसके परिवेश की प्रभुता होती है। व्यक्ति और समाज तथा परिवेश की प्रधानता के कारण साहित्य के अध्ययन के लिये व्यक्ति से सम्बद्ध विषय मनोविज्ञान, समाजशास्त्रीय विषय तथा परिवेश के लिये संस्कृति एवं राजनीत, इतिहास आदि विषय को साहित्येतिहास समेटना पड़ता है। इसके साथ ही रचना समय, कृतिकार के जन्मादि व उसके युगादि के पहलू को इतिहास की मूल अध्ययन-परम्परा के रूप में स्वीकार किया जाता है। 'इतिहास' पक्ष साहित्येतिहास में केवल 'रचना प्रकाशन' की घटना के संदर्भ रूप में प्रस्तुत कर पाता है। इस प्रकार घटनाओं के रूप में श्रंखलावद्ध कर दिये जाने के कारण ही विद्वान 'सूचीं पत्र' कह देते हैं।

साहित्येतिहास और जीवनी समालोचना

साहित्येतिहास के क्षेत्र में जीवनी समालोचना (Biographical Criticism) को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए। व्यक्तित्व के माध्यम से कृतित्व का अध्ययन करना जिस प्रकार जीवनी समालोचना का उद्देश्य है, उसी प्रकार कृतियों के माध्यम से साहित्येतिहास के स्वरूप को आलोचना के उक्त प्रकार विशेष के अध्ययन से खुलासा किया जा सकता है। समालोचना में 'जीवनी' पक्ष को तथ्य रूप में प्रस्तुत करके और कृति से उसके अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रणाली को चरितमूलक समालोचना या जीवन वृन्तान्तीय समालोचना प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए। जीवनी समालोचना में कृति एवं कृतिकार के मध्य अन्योन्य प्रभाव सम्बन्धों का विकास दिखाया जाता है। जीवन की विभिन्न स्थितियों में घटित सुख-दुख मूलक अनुभूतियाँ युग-वातावरण एवं परिवेश के परिप्रेक्ष्य में कृतिकार की कृतियों में प्रतिबिम्बित होती है। यह स्वीकार करके ही साहित्यिक अध्ययन प्रस्तुत करना और जीवन को साहित्य-रचना के निमित्त केन्द्रीय बिंदु मानकर कृतित्व का परीक्षण या समीक्षण करना, आवश्यक होता है। कवि का जीवन-वृत उसके व्यक्तित्व निर्माण का बाह्य उपादान है। काव्य में कवि का सम्पूर्ण-व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है।[1] समालोचना की इस प्रणाली में रचनाकार अपने देश काल के युगीन प्रभावों से मुक्त नहीं माना जाता और वह अपनी रचना में उसे अभिन्न रूप में जाने या

1—हिन्दी साहित्य कोष भाग १ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

अनजाने व्यक्त करता ही है। युग-सत्य उसके जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रहता और उससे संग्रहणीय प्रभाव भी प्रतिबिम्बित हुआ करता है। कवि का जीवन उसके साहित्य में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी उद्घाटित करता है। साहित्य में प्रतिबिम्बित रचनाकार का जीवन उसके सम्पूर्ण विद्यमान युग का इतिहास सत्य भी होता है। कृति रचनाकार की स्वानुभूति का प्रतिबिम्ब उसके भावों व सामाजिक परिवेश का दर्पण है। इस प्रकार रचनाकार में कृति व्याप्त रूप है। दोनों को एक दूसरे से तटस्थ या पृथक नहीं किया जा सकता है। ताजमहल के निर्माता में क्रूरता रही हो, किन्तु सम्भव है कि संपूर्ण जीवन का अधिकांश उसका क्रूरता में ही व्यतीत हुआ हो और ताजमहल उसके जीवन की क्षणिक संवेदना के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अनुभूति की शाश्वत प्रतिष्ठा हो। जीवन के अनेक महत्वपूर्ण घटना-क्षण सम्पूर्ण जीवन को आवृत करके साहित्य में सजीव मूर्त रूप पा जाते हैं। सब विद्वान का मत है 'बच्चन ने शराब नहीं पी, दूध पिया लेकिन शराब पर कविता लिखी, वहीं निराला ने दूध नहीं पिया, शराब पी लेकिन साहित्य में शुद्ध मानवीय दुग्ध धारा पर कविता लिखी।'

साहित्य में रचना के जीवन-पक्ष की महत्ता की स्वीकृति से 'साहित्येतिहास' के अध्ययन को समझा जा सकता है कि जिस प्रकार साहित्य के अध्ययन में रचनाकार को मूल केन्द्र में रखकर परीक्षण का विधान किया जाय, उसी प्रकार साहित्येतिहास में कृति व रचना को 'एक जीवित संघटना' मानकर, उसे केन्द्र में रखकर अध्ययन किया जाय। राबर्ट ई० स्पिलर के मतानुसार उसमें कृतिकार के व्यक्तित्व और उसके युग-वातावरण का क्रियात्मक योग तो है ही, पर इस व्यक्तित्व एवं वातावरण के बावजूद स्वयं कृति का भी अपना व्यक्तित्व होता है। साहित्य के इतिहास के लेखक की मूल दृष्टि कृति के व्यक्तित्व एवं वातावरण पर केन्द्रित रहती है, पर इसको समझने के लिये उस ताने-बाने को समझना आवश्यक होता है जिससे वह निर्मित होता है और निश्चय ही यह ताना-बाना कृतिकार का व्यक्तित्व और उसके युग का वातावरण होता है।[1] इ० स्पिलर का मत साहित्येतिहास के अध्ययन के संदर्भ में

1—Literary history in the aims and methods or scholarship in modern languages and literatures By-Janes Thorpe, 1963 43-45.

जीवनी समालोचना से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। कृतिकार के व्यक्तित्व के अध्ययन के संदर्भ में स्व० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का मत दृष्टव्य है—जैसे होम्योपैथिक चिकित्सा में हम वाह्य शारीरिक लक्षणों के माध्यम से रुग्णता का स्वरूप निर्धारित करते हैं, पेड़ की पत्ती देखकर पेड़ का नाम बताते हैं, वैसे ही चरितमूलक समीक्षा में रचनाकार के दैनिक जीवन की सामान्य बातों के आधार पर हम उसके साहित्य-सृजन का स्वरूप समझने का प्रयत्न करते हैं।'

इसमें संदेह नहीं कि साहित्यिक रचना जीवन का ही प्रतिफल है। जीवन का अध्ययन निस्संदेह साहित्यिक अध्ययन में सहायक हो सकता है, लेकिन किंचित अंशों में। यह कहा जा चुका है। व्यावहारिक दृष्टि से इतना अवश्य है कि किसी महान कृति को पढ़कर यह इच्छा अवश्य होती है कि उक्त कृति के कृतिकार के जीवन एवं व्यक्तित्व का भी ज्ञान प्राप्त करें और कृति में जीवन की सम्यकता भी देखें व समझें। लेकिन यह दृष्टि पाठक की होगी और पाठक-गुण समालोचक में तो होता ही है लेकिन समालोचक का मात्र पाठक नहीं होता। समालोचक अपने पूर्ण अर्थ में समालोचना द्वारा निर्णयात्मक निष्कर्ष तक तभी पहुँच सम्भव कर सकेगा जब कृतिकार के व्यक्तिगत जीवन के प्रति आशक्ति न रखे। गिरीश जी के उक्त कथन में इतनी सहमति अवश्य है कि रचनाकार के जीवन से धार्मिक तथ्य ही निर्वाचित हो अन्यथा कूड़ा इकट्ठा हो जायगा। इस सहमति के साथ यह स्पष्ट करना उचित है कि शर्त यह होगी कि तथ्य-निर्वाचन में विवेक कहीं मार्मिकता की खोज करते-करते कृतिकार की वास्तविकता को न ढाँक दें। इस तरह तो सभी 'महात्मा गाँधी' हो जायेंगे। गिरीश जी ने 'होम्योपैथिक' चिकित्सा-पद्धति में बाह्य लक्षणों द्वारा होने वाले निदान की बात चरितमूलक समालोचना के संदर्भ में कही है, यहाँ यह भी कहना होगा कि बाह्य लक्षणों से निदान का आधार अवश्य किया जाता है लेकिन इस चिकित्सा का प्रधान गुण यह भी है कि रोग को पहले उभारा (Aggravate) जाता है और तभी स्थायी निदान संभव होता है। क्या इस दृष्टि से भी चरित मूलक समालोचना अपना कोई अस्तित्व रखती है, मेरी समझ में नहीं। मात्र बाह्य लक्षण परीक्षण प्रधान चरितमूलक समालोचना के व्यक्तित्व-निरूपण संदर्भ में चिकित्सक समालोचक अपने स्वयं में 'प्रशंसा' का ही रोग बढ़ाता है, जबकि निदान की आवश्यकता उसे नहीं है, बल्कि आवश्यकता आलोच्य-कृति एवं कृतिकार के लिये है।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि कृतिकार की कृति से पृथक

सत्ता कृतिकार की हो सकती है और नहीं भी। यह बात बहुत कुछ युग-वातावरण पर भी निर्भर करता है, जैसे तुलसीदास के युग वातावरण में उनके साधु जीवन की सच्चाई साहित्य में अंकित है, जैसे रीतिकालीन कवियों का श्रृंगारिक काव्य उनके दरबारी जीवन एवं उनकी वृत्ति का रहस्योद्घाटन करता है, जैसे द्विवेदी-युग के साहित्य में भी जीवन का सत्य रूप प्रतिबिम्बित होता है कि समाज निर्माणोन्मुख दिशा की ओर गतिशील है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब, रूप कृतिकार की निज संस्कृति पर भी निर्भर करता है और यदि वह सभ्यता के नित्य नूतन परिवर्तनों पर विश्वास करता है तो उसकी सभ्यता उसे उसके साहित्य में व्यक्त संस्कृति से पृथक रखती है।

फ्रांस के एक अध्येता 'व्यूवे' ने कृति अध्ययन संदर्भ में कृतिकार के जीवन की सूक्ष्म विवेचना की प्रतीति को महत्वपूर्ण माना है। अनेक कृतियों का गंभीर अध्ययन कर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि जिस प्रकार फल पेड़ का जीवन मूलक विस्तार है, उसी प्रकार कृति भी उसके रचयिता की मानसिकता की मूर्त स्वरूप है। इस प्रकार उसके दृष्टि से जब तक कृतिकार की जीवनी का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक कृति के समक्षण में भी न्याय भावना का निर्वाह नहीं हो सकता।"[1] सेण्ट व्यूवे ने जीवन के परिप्रेक्ष्य में किये गये किसी साहित्यिक के व्यक्तित्व के अध्यय को मूल्यवान माना जाता है। चरितमूलक शैली वस्तुतः कृति एवं कृती दोनों के बीच इकाई बनकर

1—व्यूवे का कहना है कि इनके द्वारा हमें साहित्कार की जीवनी को समझने में सहायता मिलती है अवश्य, किन्तु उसमें अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का आधार बना रहता है। उसने अपनी जीवन चरित मूलक आलोचना के प्रसंग में यह बात बार-बार दोहराई है कि ऐसा ध्येता समालोचक पहले कृतिकार के वंश परिचय, पारिवारिक जीवन और मित्र समुदाय का अनुशीलन करे और बात का पता लगावे कि किसी लेखक ने सर्वप्रथम किस प्रकार की प्रेरणा से प्रवृत्त हो अपनी कृति का निर्माण किया था। उसके अनुसार व्याख्यात्मक समालोचक के लिये यह भी आवश्यक है कि वह लेखक के जीवन चरित की प्रगति का भी अध्ययन करे और इस बात का पता कगावे कि उसके आत्म-संघर्ष की सफलता अथवा विफ़लताओं ने उसके जीवन की विचारधाराओं में किन-किन समयों में उत्क्रांतियां की हैं।

डा० वेंकट रमन अ० हि० सा० में समा० का विकास पृ० ३६

अध्ययन में अनुपूरक स्थिति बनाते हैं। उसने मत संस्थापित किया था कि वृक्ष का विकास अपने में जीवन मूलकता का संदर्भ लिये हुये हैं। रचनाकार की अपनी परिस्थिति में जो भी मानसिक दशायें होती हैं, स्वभाव, गुण को जिन रूपों में वह स्वयं में संगठित किये रहता है, उनका विवेचन और उसके साहित्य में उनका प्रभाव रूप स्पष्ट कर देने से निश्चय ही व्यक्तित्व एवं कृतित्व में अभिन्नता स्थापित हो जाती है। सेण्ट ब्यूवे के उपर्युक्त मत संदर्भों का उल्लेख डॉ० वेंकट शर्मा ने अपने शोध प्रबंध में अवश्य किया है। साहित्य में भोगे हुये जीवन के अध्ययन सम्बन्धी दृष्टि-कोण को जैसा समझा जाय, उसी दृष्टि से साहित्येतिहास में कृति की जीवनी का अध्ययन, उसके परिवेश में हो, ऐसा कथन अधिक उचित होगा। जीवनी समालोचना के विषय को केवल अध्ययन की सुविधा दृष्टि में रखा गया।

साहित्येतिहास में मूल्यांकन या आलोचना का समाविष्ट पक्ष जीवनी समालोचना द्वारा अधिक स्पष्ट एवं पुष्ट होता है। साहित्येतिहास के युग-बोध एवं समसामयिकता के आधार के लिये जीवनी समालोचना 'फैक्ट' के निकट पहुँचाने में सहायक तो है ही, साथ ही युग को आत्मसात् किया हुआ लेखक का जीवन-मूल्य उसके अपने कृतित्व में प्रतिबिम्बित होता दिखता है। परिणाम-स्वरूप साहित्येतिहास को अध्ययन की सशक्त भूमि मिलती है। यदि साहित्येतिहास, अध्ययन की एक प्रणाली है तो जीवन समालोचना साहित्येतिहास के अध्ययन की या अध्यापन की प्रणाली का एक रूप है। वारॅन एवं वैलेक का कथन है कि "साहित्य के इतिहास की, अपनी निज की ही विचित्र मानदण्ड और कसौटियाँ हैं, अर्थात् दूसरे युगों का मानदण्ड।"[1] साहित्यिक पुनर्निर्माण के हामियों का कहना है कि पूर्व-धारणाओं को सोचने-समझने और उन्हें अलग रखकर विगत युगों के दिलों और दिमाग में बैठना चाहिये और उनके मानकों को स्वीकार करना चाहिये। इस दृष्टिकोण को इतिहास परकतावाद (Historicism) कहते हैं।" मेरा ऐसा मत है कि साहित्य के सृजन-युग के लिये अतीत में आकर ही, उस युग के निर्धारित मानदण्ड को स्वीकार करके ही साहित्येतिहासकार चले, यह आवश्यक नहीं। हाँ, साहित्यिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को जेम्स स्काट ने जिन कलात्मक मूल्यों के प्रति सजगता की बात अपने आलोचना सम्बन्धी मत-स्थापना के सन्दर्भ में कही है, उसे स्पष्ट कर लेना चाहिये, ताकि वारॅन एवं वैलेक के कथन से भ्रम न उत्पन्न हो। डॉ० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में इतिहास का प्रयोजन यह है कि मानव अपने आपको

पहचानना चाहता है।[1] इस प्रकार पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में आलोचना का भी इतिहास में योगदान सम्भव है।

साहित्येतिहास और कलात्मकता बोध

जेम्स स्काट ने आलोचक के लिये अनिवार्य गुण माना है। कि उससे कल्पना-तत्व का समावेश एक कलाकार की भाँति है। आलोचना में हुये कला त्मक विकास के परिणामस्वरूप उसकी दृष्टिगोचरता में स्पष्टता आ जाती है। रचना कृति में अलोचक स्वयं है कि जेम्स स्कॉट आलोचक-धर्म को रचना कार के धर्म से किसी भी स्थिति में लघु या हीन नहीं मानता। इसी संदर्भ में जेम्स स्काट का मत है कि कलाकार 'जीवन-तत्व' वैशिष्ट्य प्रधान ज्ञान से परिचित ही वही स्वयं आत्माभिव्यक्ति करता है। उसके मतानुसार यदि वह कलाकार नहीं है जो वह धारणाओं (Impressions) एवं निष्कर्ष को सामान्य पाठक तक सम्प्रेषित नहीं कर सकता। उसके अनुसार रचना कृति-विशेष का निर्माण करे और आलोचक पुनर्निर्माण करने की क्षमता से सम्पन्न हो। जेम्स स्काट रचना की आंतरिक भाव सत्य की गहराइयों में बैठ सकने की अपूर्व क्षमता को ही आलोचक सैद्धांतिक आधार-बोध स्वीकारे। सत्वान्वेषण कार्य की चेष्टा में आलोचक (सैद्धांतिक बोध न होने से) पुराने परिचित प्रति-मानों के परिप्रेक्ष्य में मूल्य नहीं निर्धारित कर पाता है। उसमें कलात्मकता का बोध न होने से सम्प्रेषणीय व्यवहार की नैतिकता भी नहीं सुरक्षित रह पाती।

रचनात्मक प्रवृत्ति एवं आलोचना के मूल की खोज में जाने पर देखा जाय तो दोनों के मध्य तादात्म्य संभव भी है और नहीं भी। तादात्म्य की संभावना वहीं है, जहाँ संवेदना के प्रस्तुत रूप की व्याख्या में आलोचक सजग हो किन्तु वहाँ उसे प्रभावाभिव्यजंक आलोचक कहकर हीन श्रेणी का मान लिया जा सकता है। वस्तुतः रचनाकार व आलोचक की मानसिक दशायें एक सी नहीं, भिन्न हैं। मेरा विचार है कि रचनाकार में संवेदना की अतिशयता के कारण उसे नदी प्रवाह में स्थिति आकुल उर्मियों की काल्पनिक संज्ञा और समालोचक को नदी प्रवाह का स्नानार्थी की काल्पनिक संज्ञा दी जा सकती है। एक

---

1. साहित्य सिद्धान्त, पृष्ठ ५३
साहित्य का इतिहास लेखन : समस्या समाधान, पृष्ठ, ६
डॉ० भोलाशंकर व्यास

रचना की दृष्टि से नदी है और दूसरा रचना-अध्ययन की दृष्टि से तैराक है। तैराक जितना ही कुशल होगा उतना ही दम साधकर गहराइयों में पैठकर स्थिति-ज्ञान का परिचय देगा लेकिन वहीं नदी या नदी की गहराइयों में डूब जाकर अस्तित्व-विहीन होकर वह आलोचक नहीं कहा जा सकेगा। रचनाकार अपनी स्वच्छंदता में स्थिति है और आलोचक उसके गति-मापन में स्थिति है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि वस्तु की अनुकूलता के ही परिप्रेक्ष्य में मापक-गुण की सम्पन्नता हो। यदि नदी की गहरायों में पैठ की दम साधना, नहीं है तो वह आलोचक न रहा जाकर, नदी के किनारे पौड़ने वाला मात्र पाठक ही बना रहे तो श्रेयस्कर होगा। आज के आलोचकों की स्थिति यह है कि वह आलोचक की नैतिकता को सहज मान बैठा है और उँगलियों पर गिने हुए प्वांइट्स के अनुकृतियों पर 'टिक' लगाकर किसी अर्थहीन गंतव्य पर अध्येता को सहज पहुँचा देता है। आलोचक काव्य से अपरिचित रहता है और सूत्रों से परिचित रहता है। यदि आलोचक अच्छा पाठक हो तो कृति के आंतरिक सौन्दर्य-बोध को समझ सकता है।

आलोचक रचनाकार कैसे हो सकता है, क्या वह 'क्रिएटिव' साहित्य में स्थित 'कल्पना' का उपयोग (या आश्रय) कर सकता है? कल्पना फैक्ट नहीं? आलोचक फैक्ट चाहता है। मेरा कहना है कि रचनाकार की कल्पना कितनी फैक्ट है, यह समझने के लिये कम से कम आलोचक के पास फैक्ट की कल्पना उसके मानस में स्थिति होना चाहिये। आज सामाजिक यथार्थ अथवा वैयक्तिक यथार्थ का अन्वीक्षण रचनाकार की प्रतिमान है, यहाँ जब तक आलोचक उक्त प्रतिमान का बोध नहीं कर पायेगा तब तक निश्चय ही स्कूल रूढ़ फार्मूले के अनुसार टिक-वादी आलोचना लिखकर परीक्षोपयोगी हित-चिंतना का परमार्थ करेगा किन्तु साहित्य का नहीं। मेरा इस पर विश्वास नहीं कि सौन्दर्य-विज्ञान (एस्थैटिक्स) रचनाकार एवं आलोचक के मध्य सीमा-रेखायें पृथक करता है, यह कार्य तो आलोचक की निस्संगता के भीतर गुण व धर्म बनकर मूर्तमान हो जाता है। वस्तुतः सौन्दर्य-बोध दोनों में होना चाहिए। किन्तु आलोचक में प्रभाव की दृष्टि मुक्तता, निस्संगत एवं तटस्थता हो, यही सीमा-रेखाओं की पृथकता होगी।

'आधुनिकता बोध की परिचर्चा युग में आलोचक प्राचीन प्रतिमानों को कंठहार बनाये हुये हैं और जबकि उन्हें युग-बोध के भीतर व्यतीत होना

एवं नव्य-जीवन मूल्यों को देखना चाहिये । ऐसे आलोचक मृत मूल्यों को जिन रूपों में लादे रहे हैं, मैं समझता हूँ कि वे उन्हें संभवतः अपने साथ श्मशान की ओर लिए जा रहे हैं ।

आलोचक रचनात्मक तत्वों को समझने की यदि योग्यता रखेगा तो निश्चय ही वह बदलते हुये मूल्यों को सहानुभूति दे सकेगा । आलोचक प्रायः वादों की निंदा करता है और वह ही आलोचना के क्षेत्र तक में वादों की बैसाखी पर चलकर और संकीर्ण रूप देखकर अपना पृथक संगठन बना लेता है । इस अंतर्विरोध की समाप्ति का विधान है कि आलोचक में साहित्य बोध हो और उसके पश्चात् प्रतिमानों का महत्व हो । मान लीजिये कोई 'करुण-रस' काव्य है, पाठक स्थान-स्थान पर तो रो पड़ता है और वही यदि आलोचना की ओर अग्रसर हो तो निश्चय ही पाठक वर्ग का ही सही निर्देश कर सकेगा, किन्तु ऐसा आलोचक जिसमें रसात्मक बोध हो ही नहीं और भाव, विभाव, संचारी भाव की व्यर्थ सोदाहरण व्याख्या मात्र खाना पूर्ति के रूप में करे तो निश्चय वह आलोचना के नाम पर डॉ० रसाल की एक मजाक की उक्ति के अनुसार 'आलू चना' है ।

आलोचना भी क्रिएटिव हो, साहित्य रचना के भीतर क्रिएशन को वह मूल्य बोध के रूप में मूर्त्तमान कर सके तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ आलोचक कहा जा सकेगा । आलोचक जब तक क्रिएशन के निकट न होगा, तब तक उसकी नैतिकता बोध के सम्बन्ध में शंका बनी रहेगी । बदलते हुये मूल्यों के प्रति आलोचक में सहानुभूति उसके क्रिएशन वैल्यू पर निर्भर करेगी ।

साहित्येतिहास के संदर्भ में आंचलिक परिवेश और आधुनिक लेखन

साहित्येतिहास-लेखन में मैं कह चुका हूँ कि जीवन- मूल्यों की निरन्तरता के प्रस्तुतीकरण के लिए परिवेश को युग-बोध की दृष्टि से समझने की आवश्यकता है । कृतित्व में या रचनाधर्मिता में परिवेश की रचनाकार ने अपनी सही समझ के अनुसार प्रस्तुत किया है या नहीं, साहित्येतिहास-लेखन का प्रतिमान होना चाहिए । आधुनिकता के अनुवभ-संदर्भ में जिस परिवेश व मूल्य को लेकर साहित्य में एक नयी दृष्टि का बोध किया जाता है, वह है आंचलिकता । वैसे प्रबन्ध या वस्तून्मुखी विधाओं में देशकाल व वातावरण या स्थानीय रंग को एक शर्त माना जाता रहा । किन्तु आंचलिकता में देश-काल व वातावरण को एक बहुत सूक्ष्म रूप में, उसके किसी एक सतह पर ही अनुभव किया जा सकता है आंचलिकता का मूल्य एक किसी खास स्थान-

विशेष के जीवन दर्शन व पद्धति पर आधारित है। इसकी आभ्यांतरिकता में लोक-चेतना का आत्म रूप है जिसे समझने के लिये साहित्येतिहास लेखन की दृष्टि से आंचलिकता वसूली कृतियों के माध्यम से समझना होगा। आंचलिकता साहित्य की आत्मा है। साहित्यिक सृजन में, आंचलिक परिवेश से प्रस्तुत जीवन-मूल्य का यथार्थ बोध होता है, उसमें कल्पना की गुंजाइस नहीं होती। साहित्य में आम आदमी के चिन्तन को भी समझने के लिये जिस प्रतिबद्धता को हम परिवेश से जोड़ते हैं, वह परिवेश आंचलिक ही हो सकता है।

आंचलिकता की स्थिति स्थानीय परिवेश के प्रस्तुतीकरण में है साहित्येतिहासकार बहुत सी बातों को अलग-अलग करके, जहां आंचलिकता में स्थित जीवनाभूति है, वहां उसे परिवेश से मुक्त करते हुये उलझी हुई, अस्पष्ट स्थापनाएँ करता है। यही कारण है कि आंचलिकता के भीतर होने वाली मनुष्य की यात्रा-कथा अध्येताओं के नजदीक नहीं आ पाती। आंचलिक सृजन के लिये लेखन उसी स्थान को चुनता है, जहां की संपूर्णता का वह स्वयं उपभोक्ता रहा है। यूँ कहें कि लेखक में आंचलिक जीवन व उस क्षेत्र के प्रति, उसका रागात्मक संबन्ध होना आवश्यक होता है। आंचलिकता उस क्षेत्रीय इकाई की संपूर्णता में है जिसमें उसकी अपनी भौगोलिक प्रकृति से उद्भूत संस्कारिता व मानसिकता का दर्शन होता है मैं यह नहीं मानता कि आंचलिकता से किसी खास स्थान की वे सभी बातें क्रमबद्ध रूप में रखना मात्र ही, उसका पारिभाषिक अर्थ होता है, मान लीजिये कि बम्बई के आंचलिक मजदूरों के जीवन में कोई जरूरी नहीं कि चौपाटी का, समुद्र का, ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं का विवरण हो। वल्कि होना या चाहिये कि बम्बई के यान्त्रिक जीवन के संत्रास को जीने वाले मजदूर की वह प्रकृति हो जिसे वह झुग्गियों में जी रहा हो या खाँस रहा हो। ऐसे परिवेश में उस झुग्गी वाले जीवन में मनुष्य की वह भाषा होगी जो एक अवधी, गुजराती बोलता हो या वह मिली-जुली भाषा जो एक दूसरे को समझने व नजदीक लाने में सहायक हो ऐसी उपेक्षित आंचलिकता को जीने के लिये, ऐसा लेखक अपने आप पैदा होता है। जो उसके आस-पास रहा होगा या रहता होगा। अन्यथा उस आंचलिता को हम यथार्थ नहीं मानेंगे जो कल्पनाओं के सहारे अंदाजे बयान हो। मनुष्य की परिवेश-जन्य चेतना जो व्यक्ति से लोक की ओर अग्रसर हो, आंचलिकता है। किसी स्थान या क्षेत्र से सम्बन्धित सूचनाएँ एवं विवरण के प्रस्तुत कर देने के साथ वहाँ के ही मनुष्य व समाज का खाका खींच देना मात्र आंचलिकता नहीं है।

जिन्हें हम सूचनाएँ व विवरण कहते हैं—वह, उस स्थान-विशेष के मनुष्य का परिवेश होता है और उसमें ही जीवनाभूति कराना लेखक का अभीष्ट होता है। प्रतिबद्धता आंचलिक परिवेश के प्रति होती है जिसमें मनुष्य की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है।

हिन्दुस्तान एक बहुत बड़ा देश है। यहाँ तांत्रिक सभ्यता की रोशनी बहुत सी जगहों पर आज तक नहीं पहुँची है। अभी भी कुछ स्थानों में स्थानीयता बरकरार है और जब कभी ऐसी जगहों पर नयी रोशनी की लुका-छिपी होती है तो वह चकाचौंध मात्र उत्पन्न करती है। ऐसे आदिवासी क्षेत्र हैं, जहाँ सेक्स की उन्मुक्ता भी एक जुड़ता बन गयी है या कहिये कि परम्परा। उनकी अपनी समझ उनके प्राकृतिक परिवेश की देन है। कच्ची शराब की गरमाहट में मांसलता के आवेग के लिये उनमें कोई सामाजिक बन्धनों का संसकार नहीं होता। ऐसी जगहों पर शहरी सभ्यता का यदि प्रभाव बढ़ता है तो वही सेक्स व्यवसाय (प्रोफेशन) हो जाता है। ऐसे अंचलों की पीड़ा को व्यक्त करने के लिये अनुभव के भीतर से व्यतीत होना होता है, अन्यथा वाह्य-दृष्य प्रस्तुत कर देने मात्र से हम आंचलिकता का सम्पूर्ण दर्शन नहीं करते। इसी संदर्भ में हिन्दुस्तानी गांवों के भीतर से आये हुए लेखकों के साहित्य को देखते हैं तो बात साफ हो जाती है कि उन्होंने जिन अपने परिवेश के जीवन-मूल्यों को भोगा है, वहीं उनके चरित्रों में शाश्वत जीवन्तता आयी है।

आंचलिकता को मैंने एक परिवेश के सदर्भ में जुड़ा हुआ जीवन-मूल्य कहा है। आंचलिकता के भीतर वास्तव में मनुष्य के अंतः संस्कारों में जीवित पारम्परिक मूल्यों की स्थिरताओं या उसके अपने युग की नयी चेतनाओं का यथार्थ मूल्यांकन होता है। इसलिये लोक विश्वास आंचलिकता की शर्त नहीं है, वह तो उसका आत्मसात् गुण है जो उसके भीतर निरंतर है और उस निरंतरता में वह अपने वर्तमान का किसी प्रकार अनुभव कर रहा है, प्रस्तुत करना, लेखक के दायित्व में आता है। किसी स्थान का पूँजीपति, कास्तकार या गरीब गँवई किसान है। दोनों गैर पढ़े लिखे हैं किन्तु एक सा परिवेश जीते हुए भी दोनों की परिस्थितियों के बीच फासला भर होता है। दोनों दो जातियों के हैं किन्तु गांव की दृष्टि से, दोनों एक दूसरे को काका भतीजा मानते हैं। शादियों, मरनी-करनी में, दोनों एक ही लोक विश्वास लेकर जीते हैं। दोनों के बीच के तनावों व आत्म संघर्षों को लेखक जब तक अपने अनुभव के भीतर नहीं लायेगा तब तक दोनों पात्रों की दूरी पाठक से बनी रहेगी।

आंचलिकता–बोध स्वयं में एक लेखकीय ईमानदारी है। यहाँ इसमें प्रतिबद्धता का सवाल ही नहीं उठता क्योंकि लेखक की ईमानदारी के साथ जीने का मतलब ही है प्रतिबद्धता। ईमानदारी से जीकर जिन मूल्यों को लेखक आकार देगा–वही उसकी रचना होगी, कला होगी। आंचलिक परिवेश लेखक के लिये पहले कच्चा माल है और जब वह उससे जीने लगता है तब वह उसके भीतर पकता है, जो अनुभव बनता है और अभिव्यक्ति पा जाने पर, वही अपनी संपूर्णता में साहित्य है–उस अंचल विशेष का। आंचलिकता को मनुष्य अपनी ही बोली में या भाषा में बिना किसी रुकावट के, व्यक्त करता है। यह भी कोई सूत्र नहीं है। सूत्रों में बताना तो अध्यापकीय समीक्षा की देन है। अपने आंचलिक परिवेश को जीने वाला मनुष्य अपनी सहानुभूति को अपने मुहावरों में ही सही अर्थ दे पाता है। अन्यथा किसी दूसरी भाषा में यदि बोलता है तो उसे शब्द की तलाश के लिये अपनी शक्ति अनावश्यक रूप से गवानी होती है। यही नहीं, उसकी अपने खेते (क्षेत्र) की बोली में ही उसका लोक-संस्कार जीवन-मूल्य का यथार्थ समझ में आ सकता है। इसलिये मानक भाषा के प्रयोग में उसका बहुत कुछ अपना अर्जित आवृत्त हो जाता है। मैंने अनुभव किया है कि अपनी आंचलिकता को अपनी बोली में ही, सही मायने में प्रकट कर पाता हूँ।

अब सवाल उठता है कि आंचलिकता के संदर्भ में रूढ़ियों की स्थितियां। मैं कह चुका हूँ कि आंचलिकता अपनी संपूर्णता में, एक मनुष्य की चेतना में जितना अन्तर्व्याप्त है उतना ही वहाँ की हर इकाई के बाह्य लोक-जीवन में दिखाई पड़ता है। इसी परिप्रेक्ष्य में रूढ़ियाँ भी अपनी जगह होती हैं किन्तु उनका स्वरूप इतिहास से नहीं जुड़ता है बल्कि वह निरंतरता एवं पीढ़ियों के संस्कारों की विद्यमानता के कारण समसामयिक ही बना, दिखायी देता रहता है। संसार की सभ्यता का असर पिछड़े स्थानों की जन-जातियों पर अशिक्षा के कारण बहुत देर में बाद में होता है। लेकिन होता अवश्य है। मैंने देखा है कि दस-बीस गावों के बीच कोई बाजार लगने वाले कस्बे को, गंवई उसे अपनी राजधानी की तरह मानता है क्योंकि वहाँ अब आज इतनी देहाती दुनियां देखने को उसे नहीं मिलती जितना पहले। आज तो ऐसे केन्द्रीय कस्बाई बाजारों में थाना है, डाकखाना है, दवाखाना है और बस स्टैण्ड और तो और बिजली के लट्टुओं का प्रकाश भी। मैं उन दूरदराज जंगली जगहों की बात नहीं कर रहा, जहाँ अभी बहुत कुछ होना शेष है। कस्बाई संस्कारों के आ जाने से रुढ़ियों में भी बहुत बदलाव

है। इन सबके होने के बाद भी शादियों, मरनी-करनी, मुंडन के अवसरों पर खेतों के लोग अपनी रूढ़ियों को पुनर्जीवित कर लेते हैं। रूढ़ियां कुछ जातिगत परम्पराओं, कुछ आर्थिक कारणों, कुछ धार्मिक आधारों पर निर्भर करती हैं।

शहरी अंचलों में ओढ़े हुए सभ्यतागत नुमाइसी जिंदगी के बीच अपने यथार्थ से दूर रहने को ही आधुनिकता समझ बैठता है। हर मनुष्य वास्तव में अपने भीतर आंचलिक संस्कारों एवं प्रकृति को जिया ही करता है। उससे कटकर ही जीना उसे एबनार्मल बनाता है। वास्तविकता की समझ मैंने विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की श्रेष्ट पार्टी में पायी जहाँ एक सरयूपारीण प्राध्यापक को देखा कि सब प्रकार के आधुनिक खाद्य पदार्थों के होने पर भी उन्हें कुम्हड़े व लौकी सब्जी न होने का दुख था। वास्तव में वे अपनी आंचलिकता की सबब से अपने मूल खाद्य को नहीं भूले थे। ऐसे लोग बड़े होटलों में फिट इसलिये नहीं होते कि उन्हें तुरन्त भोजनालय का आभास रहा आता है। इसके पीछे मनुष्य की वह मानसिकता है जो उसे अपने आंचलिक परिवेश से मिलती है। शहरी आंचलिकता में सभ्यता का प्रभाव होता है जो शीघ्र ही स्थितियों के बदलाव का आभास देता रहता है। औद्योगीकरण व शहरीकरण से शहरों में कस्बाई संस्कार उपजते हैं और पीढ़ियों के अन्तर में कस्बाई संस्कार चूकने लगते हैं। सभ्यता के परिवर्तन को देखा जा सकता है। किंतु ग्रामीण अंचलों में जहां यातायात का अभाव होता है, संस्कृति व धर्म अपनी जड़ें बनाये रहती है। यही कारण है कि सभ्यता की जहाँ रोशनी नारी-समाज पर नहीं है, वहां पुरुष भी घर परिवार में वापस आकर कुछ देर के लिये पोंगा पंडित हो जाता है। बल्कि यह कहना गलत न होगा कि आंचलिक लोक-विधाओं की धरोहर भारतीय नारी है जो अपने आदमी के साथ महानगरों में जाकर भी अपने अंचल की रीतियों को जिया करती है और अपने आदमी को जीने के लिये विवश करती है।

सम्प्रेषण-प्रक्रिया आदमी के जीवन-मूल्यों की यथार्थ प्रस्तुति में हैं। आम आदमी जहां का भी होगा, वह अपने परिवेश से जुड़ा होगा। इसलिये 'प्रतिवद्धता' परिवेश के प्रति होती है जो आम आदमी की स्थिति (सिचुएशन) को स्पष्ट करती है। अक्सर कहा जाता है कि 'प्रतिवद्धता' की बात एक 'स्टण्ड' है। यह बात वही कर सकते हैं जो अभी भी जीवन मूल्यों के यथार्थ के बीच जिया नहीं करते और उनका अनुभव व परिवेश रंगमंच के नकली पर्दे की तरह होता है। यदि संदर्भ, स्थिति, वातावरण एवं स्थानीयता से

मुक्त अवास्तविक परिवेश विधान होगा तो लेखक के चरित्र, दृष्टि में आम आदमी का लोक-उभर सकेगा।

मनुष्य की अनुभूति-सत्ता से अलग हटकर यदि हम समाज के बाह्य-स्थल के मात्र मृत पक्षों को लेंगे तो वह मात्र सूचना होगी-रचना नहीं। यहां यह होना चाहिये कि समाज के स्थान पर उसका अपना वह आंचलिक परिवेश हो जिसमें आम आदमी सांस लेता है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया से आम आदमी की धड़कन की हर गति को सूक्ष्मतः समझा जा सकता है। यह बात प्रगतिशील कहे जाने वाले लेखकों की समझ से परे है, इसलिए कि वे समाज के 'फार्म' के प्रस्तुतीकरण को ही शायद जीवनाभूति मान बैठे हैं। समाज की विडम्बनाओं की स्थूल आलोचना को सृजन समझ बैठे हैं। सृजन अनुभूति की प्रेषणीयता में है। यही कारण है कि वे दलीय प्रतिबद्धता के प्रति अधिक ईमानदारी है न कि अपने अभीष्ट चरित्र की अनुभूतिपरक पीड़ा व संवेदना के प्रति। कबीर, तुलसीदास में उन्हें कभी-कभी, भारतेन्दु हरिशचन्द्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, निराला, प्रेमचन्द्र आदि सभी में मार्क्सवाद के दर्शन होते हैं और भूल जाते हैं कि कबीर व तुलसीदास अपने अनुभवगत मूल्यों के कारण आज भी लोगों को प्रभावित करते हैं। यही नहीं उनमें भी एक मत दृष्टिकोण नहीं है क्योंकि एक पक्ष तुलसीदास के राम को फ्यूडलिज्म से जोड़ता है और उन्हीं का दूसरा पक्ष मार्क्सवादी चश्में से साम्यवादी मानता है।

अक्सर कहा जाता है कि आंचलिक साहित्य से राष्ट्रीय एकता के खण्डित होने की आशंका है। ये उन लोगों द्वारा ही स्थापना की जाती है जो वास्तव में साहित्य की भावनात्मक एकता के सिद्धांत को नहीं जानते और प्रचारवादी स्थूल वर्ग-संघर्ष के फार्मूले पर चल कर साहित्य को राजनीति से जोड़ देते हैं न कि मनुष्य के भीतर की आंतरिक संघटित चेतना को समझने की कोशिश करते हैं। यह बात और स्पष्ट होती है कि मध्ययुगीन कवियों ने अपनी बोलियों में लिखकर भी हिंदी के राष्ट्रीय स्वरूप को निखारा है जबकि प्रचारवादी लोगों की स्थूल राजनीतिक दृष्टि में हिन्दी की बोलियां हिन्दी से अलग है, वह अंतर्राष्ट्रीय एवं अराजकतावादी चिंतन भी उनके दृष्टिकोण में शामिल है। इसलिये साहित्येतिहास में आंचलिकता बोध के लिये जीवन्त मुहावरों को एक राष्ट्रीय धारा के जोड़ना सार्थक होगा। आंचलिकता बोध में साम्प्रदायिक दृष्टि संकीर्णताएँ चुक जाती हैं जीवनानुभूति की सबब से। यही नहीं, आंचलिकता को उस क्षेत्र का सभी वर्ग अपनी चेतना में संजीवित किये रहता है।

आंचलिकता आम आदमी की जिन्दगी से जुड़ा हुआ एक चेतन संस्कार है जो साहित्येतिहास के भीतर आना चाहिए। स्थानीय जीवन-मूल्यों के भीतर से राष्ट्र की चेतना के अनुभव का रूप देना इसका एक श्रेष्ठ गुण है जो साहित्य को महिमान्वित करता है।

साहित्येतिहास प्रगतिशीलता और आधुनिकता

जहाँ भी सृजन होगा, वहीं उसके साथ अच्छे या बुरे होने की बात उठ आती है। लेखक का सृजन किन्हीं ऐसे व्यावहारिक जीवन के अनुभव पर टिकता है जो उसके जो उसके युग का, परिवेश का होता है। यही उसका युग व परिवेश तथा उसके जीवन-यात्रा के बहुत से आम लोग सृजन में जैसा जीने लगते हैं और यही जीना साहित्येतिहास में भोगा हुआ मूल्य प्रस्तुत होना चाहिये। लेखक व इतिहास के सम्बन्ध को मनुष्य व उसकी परम्परा अथवा अतीत में जाने की परिकल्पना कहेंगे। यह परिकल्पना भोगा हुआ नहीं होता बल्कि उसकी (लेखक की) मानसिकता में अतीत के आधार की स्वीकृति पर डिफिसिएन्सी है जिसके कारण उसको बना व बुना हुआ कथा-चरित्र मिल जाता है और वह उस इतिहास-युग के परिवेश समसामयिक को अपनी कल्पनाओं से पेन्ट कर देता है। इसीलिये अतीत को मिश्रकीय प्रतीकों के परिप्रेक्ष्य में रखकर आधुनिकता के नये मूल्यों से जोड़ने की कोशिश की जाने लगी है। साफ जाहिर है कि आ-भोगे हुये होने के कारण स्थान-स्थान पर लेखक को चरित्रों के साथ और जबरदस्ती करनी पड़ती है जो चरित्र व पात्र की मानसिकता के विपरीत होते हैं। आज के साहित्य में प्रमाणिकता अपने युग के जीवन क्षणों के सही भोगेपन में हैं। यहाँ यह भी कहना गलत नहीं होगा कि समसामयिक मूल्यों की प्रतिष्ठा ही व्यक्ति को चाहे वह लेखक का व्यक्ति हो चाहे समाज का व्यक्ति हो कोई भी हो परिवेश से कटा होकर सृजन को जीवन्त नहीं बना सकता। इतिहास से अलग-अलग होने की आकुलता का कारण भी है कि आज का मनुष्य अपने वर्तमान को जिन रूपों में ग्रहण कर रहा है, उसे, अतीत और भविष्य के बारे में सोचने की फ़ुरसत ही नहीं है।

व्यक्ति की इकाई अपने में पूर्ण है। इस इकाई का अपना भीतर भी है और बाहर भी। बाहर क्या है ? बाहरी संसार में भी वह इकाई है। माँ-बाप भाई-बहन, मित्र, पड़ोसी सभी तो हैं लेकिन सभी का होना उसके लिये गैर-मतलब है। सभी किसी न किसी कोशिश में हैं। सुबह से शाम तक शहर के मशीनीजीवन की यंत्रणा। गाँवों में खेतिहर जिस समय अलाव के पास निश्चित सोया करता था। उस समय वह आज बाहर न सोकर भीतर सोने लगा

है केवल इसलिये कि बीज गोदाम से उसने बीज ऋण के रूप में ले लिये हैं, उसने को-आपरेटिव बैंक से भी कर्जा ले रखा है, खाद वाले को भी उसे अच्छी रकम देनी है। और लेव्ही ? ये सब कर्जदारों की वसूली साहूकारों की सख्त वसूली से दस-गुना ज्यादा है क्योंकि इनके साथ तहसीलदार और पुलिस का इंसपेक्टर भी चलता है। खेती का भी मोज उसका कुछ दिनों पहले जैसा नहीं है जैसा अब वह ट्यूब-वेल, चीनी-मशीन, प्रेसर के कारण भोग रहा है। यही मशीनी-यंत्रणा उसे चुका रही है। यह प्रश्न सामाजिक नहीं है बल्कि उस गंवई के भीतर की अपनी निजी चिन्ता है। खेतिहर ऊबकर शहर की ओर भाग जाता है।

अब सवाल उठता है कि समाज की हर इकाई जब अतीत से विमुक्त होगा तो उसके वर्तमान के मूल्य-बोध को क्या कहेंगे ? आधुनिकता उस युग की, जो उसके भीतर त्रासदी बनकर उसे एक-एक दिन घसीट रहा है ? उसे कल्पना में जीने का अवसर कहाँ ? भविष्य उसके लिये केवल लाटरी खुलने की तारीख है। आज के युग की भोग्य-चेतना का दर्शन ही आधुनिकता है।

पश्चिमीय लोकतंत्रीय राष्ट्रों के औद्योगिक विकास में एक वर्ग अधिक मोटा हो जाने के कारण ब्लड-प्रेशर व हार्ट की दुश्चिन्ताओं को झेलता है। मशीनी जीवन में उसका संकलित धन-वैभव भी उसका त्रासदी है। यह भी निपट अकेला है। लोकतंत्र में व्यक्तित्व के विकास के नाम पर वह पूँजीपति बन जाता है। ऐसे आदमी की जिंदगी में विश्वास, आस्था, प्रेम, संवेदना का कोई स्थान नहीं क्योंकि वह तो अपने हर क्षण भय की ग्रंथि लेकर जी रहा है। इसी तरह साम्यवादी संसार में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना आदमी मशीन तो हो ही गया और साथ ही मनुष्य होकर भी वह कुछ बोल पाने की स्थिति में नहीं है। तमाम मशीनों की तरह औरत भी बच्चा पैदा करने की मशीन है जो परस्कृत होकर भी अपने बच्चे के लिये करुणा-शून्य हो जाती है। साम्यवादी देशों में मनुष्य एक प्राणी नहीं है, बल्कि चिन्तन प्रधान मरीज है। रोटी और कपड़े के अलावा उसका कोई वजूदा नहीं। आत्माभिव्यक्ति के नाम पर उसके लिए यातना-शिविर है। ऐसे देशों में भोगे हुए मशीनी-क्षणों का क्या सृजनात्मक महत्व होगा ?

प्रथम व द्वितीय महायुद्धों ने मनुष्य-जाति को शरणार्थी बना दिया। आबादियों के भागमभाग, स्थान परिवर्तन ने उन सभी पारम्परिक मूल्यों को समाप्त कर दिया जो इतिहास से मिलना संभव था। औरत-पुरुष का सम्बन्ध

वेद, धर्म, जाति की सीमा के बंधन से टूटकर सामान्य हो गया। शरीर संबंधों में धर्म का कोई स्थान नहीं रह गया। नए शहर बसे, पुराने शहर उजड़ गये। रूढ़ियों का नामोनिशान नहीं रहा। रूसो के व्यक्ति स्वातंत्र्य व मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद, दोनों के बीच दुनियां बटने लगी। हिन्दुस्तान या लगभग सारा एशिया गुलाम था। गुलाम को दासता के नाम पर रोटी-कपड़े मिल जायं, बहुत है। मजदूरी करके पेट पालने वाले इस देश के लोगों को कहाँ नहीं भटकना पड़ा। अफ्रीका के देशों में मजदूरी करने जाना पड़ा। यह सब उस मशीनी उपलब्धियों का परिणाम रहा कि मनुष्य एक ओर भीड़ के जंगल में भटकता हुआ जानवर होता गया और दूसरी ओर लोकतंत्रात्मक मूल्यों की पहिचान से उसे अपने व्यक्ति की इयत्ता को भी समझने का धीरे-धीरे अवसर मिला।

सवाल उठता है कि व्यक्ति को अपने होने का अहसास ही उसकी सवतंत्रता का आत्म-बोध है। मार्क्स ने हीगेल के डाइलेक्टिल आइडियलिज्म से आगे बढ़कर द्वन्दात्मक भौतिकवाद की प्रतिष्ठा की। उसके वर्ग-संघर्ष को एक सच माना गया किन्तु प्रशासनिक ढाँचे में आकर उस दर्शन द्वारा व्यक्ति की हत्या हो जाती है। यहीं सवाल उठता है कि प्रशासन की विचार-धारा के विरुद्ध साम्यवादी देशों मार्क्सवादी चिंतन की व्यावहारिकता में विद्रोही स्वर कहा है ? आलोचना कहाँ है ? आत्माभिव्यक्ति कहाँ है ?

बीसवीं शताब्दी के एफ्रोएशियायी देशों की स्थितियों को देखना भी जरूरी है ? दो महायुद्धों के बीच इन पूँजीवाद राष्ट्र औपनिदेशिक देश के लोगों को दासता का बौद्धिक ज्ञान करा रहे थे। भारत में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना में अंग्रेजों की यह भी नीति रही है कि इंग्लैण्ड में शिक्षित युवा भारतीय इस संस्था के नेता बनें। यही कारण है कि रूस की लेनिन-क्रांति का असर भारत में न पड़े तभी उस समय गांधी जी ने भारतीय संस्कृति के नाम पर भगत सिंह, बटूकेश्वर दत्त आदि क्रांतिकारियों को नकार दिया और वहीं राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों के तस्वीर भी धूमिल हो गयी। अंग्रेज चाहते थे कि कांग्रेस व मुस्लिम लीग के, उनके प्रशिक्षित चम्बे नेतागणों को ही शासन सोंपा जाय ताकि उनकी सांस्कृतिक स्वतंत्रता का दवाब, ख्वाह ही बना रहे। ऐसी स्थिति में गांधी जी द्वारा जन जागरण का राष्ट्रीय महत्व यदि समझा जाय तो इतना ही है कि वे दयानन्द सरस्वती की परम्परा में सेट हो जाते हैं। द्वितीय महायुद्ध में इंग्लैंड, रूस, फ्रांस, अमेरिका मित्र राष्ट्र थे। इसीलिये भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी सन् १९४२ में शासक वर्ग के साथ थी। जर्मन

जापान द्वारा सुभाष बोस को दी गयी पनाह व शह आज राष्ट्रीय चिंतन की दृष्टि से उपेक्षित क्यों ? इसलिए कि रूस भारत मैत्री की पृष्ठ भूमि में हम आज इनकी सेवाओं को देखते हैं । कूटनीतिक दृष्टि से नहीं देखते कि अंग्रेजों का दुश्मन हमारा मित्र था । ऐसी स्थिति में भारतवर्ष कागजी आजादी पाकर भी अंतर्राष्ट्रीयता के नाम पर बौद्धिक क्रांति का कोई अपना निजी व मौलिक क्षेत्र नहीं ढूंढ़, पा, या तलाश कर सका है और अंधेरे में भटके हुए लोगों मार्क्सवाद की लाठी क्षमा दी जाती है ।

द्वितीय युद्धोत्तर काल में हिन्दी साहित्य को जो एक नया मोड़ मिला उसके साथ ही यह त्रासदी रही कि प्रगतिवाद का एक आंदोलन चला ही था कि इस देश में इंटरिम गवर्नमेन्ट के आ जाने पर प्रगतिशील कवि गांधीवादी होने लगे ताकि वे शासन का पूर्ण लाभ उठा सकें । छायावाद प्रायः समाप्त हो गया था किन्तु उसका कुछ प्रभाव लेकर १९३९-४० में छायावाद-प्रगतिवाद का, दोनों का मिला-जुला रूप भी सामने आ चुका था । छायावाद के पतन के अवसर पर भी प्रगतिशील लेखक दोनों प्रकार की विचारधारा के बीच सम की खोज कर रहे थे । 'तार-सप्तक' का प्रकाशन ही द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप एक नयी दिशा-बोध कराता है । जो एक-दो प्रगतिशील कवि डिफेक्टर नहीं हो सके, वे टूटे व उखड़े हुये लोग 'प्रयोगवाद' के नाम पर तार-सप्तक में आये या उनमें शामिल होकर अपने दिन बिताने लगे । सन् १९४७ की पन्द्रह अगस्त को लाल किले पर कविता पढ़ने वाले राष्ट्रीय कवि ही नहीं, पद्मभूषण हो गये । इस प्रकार कविता से जो राजनीतिक छल हुआ उसमें बैक-डोर-इण्ट्री वाले लोगों की साँस उस समय ओर घुट गयी जब बौद्धिक संवेदना, वैयक्तिक अकम् एवं नयी आस्था के मूल्यों को लेकर प्रयोगवाद को 'नयी कविता' कहकर अज्ञेय, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, विजयदेव नारायण, साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि ने 'नयी आस्था' की उद्घोषणा की । बात साफ है कि तथाकथित प्रगतिशील घुस-पैठ की ब्रिटिश गवर्नमेन्ट से लेकर साहित्यिक मंच तक, पोल खुलती गयी कि एक राजनीतिक चिन्तन व विचार-धारा साहित्य व भाषा के क्षेत्र में लकड़बग्घे की नीति अपनायी जाती रही है । यही सवाल फिर उठता है कि आलोचना की क्या गति रही ? आलोचना शोध व अध्यापन के रूप में अस्तित्व खो बैठी किन्तु भाव मूल्य-बोध एवं नयी कविता की प्रस्तावना के लिए, आलोचना व्यक्तिवादी स्तर पर मानव स्वातंत्र्य के मूल्यों को लोक-जीवन के नियमित सार्थक बनाने की ओर मुड़ी जो इतिहास की परम्परा से मुक्त होकर भी मुक्त नहीं थी । लोकतंत्र और नयी कविता

दोनों का एक निकट का सम्बन्ध रहा। प्रतीकों, उपमानों, शब्द-योजना व बौद्धिक संवेदना के मानवीय पक्ष की अभिव्यक्ति में जो मूल्य संस्थापित हुए, वे नयी कविता को आधुनिकता से जोड़ते रहे हैं। यहाँ यह बात साफ है कि प्रगतिशील चिंतन का आधुनिकता से कोई सरोकार नहीं रहा। नयी कविता का पक्ष मनुष्य की चेतना से गुड़कर भीतर की रागायनिक प्रक्रियामूलक अभिव्यक्ति को लिए हुए हैं। केवल सर्वहारा वर्ग का नारा ही कविता-मूल्य है, यह स्लोगन असार्थक सिद्ध हो गया।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज के संस्पर्श का एक काल्पनिक मोह निश्चय ही रचना के मूल्य-निर्धारण में बाधक बन जाता है क्योंकि रचना के मूल्यों की समसामयिक स्थिति ही आलोचना के प्रतिमान बनते हैं। इसलिए हम वहां तक अन्तर्राष्ट्रीयता को स्वीकारेंगे जहाँ तक उसका असर या दबाव हमारे ऊपर किसी न किसी रूप में पड़ता है। लेकिन हम पर दबाव है, यह माने, गलत व बेमानी है। लोकतन्त्र में राष्ट्र की समसामयिक समस्याएँ पहले आदमी पर आक्रमण करती है और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ बाद में। हो सकता है कि अरब राष्ट्रों का तेल का भाव बढ़ा देना, वियतनाम, लाओस, थाइलैण्ड का अमानुषिक युद्ध होना, कोई जरूरी नहीं कि इस बात पर हिंदुस्तान का कवि रोने लगे और अपने देश की भूखा-नंगा, पद-दलित, गरीब आदमी हमें पहले रोने के लिए न विवश करें। लेकिन हो यही रहा है कि भ्रष्टाचार, बेरोजगार के कारण युवा-पीढ़ी धक्के खा रही है, आत्म-हत्याएँ हो रही हैं, आदमी टूट-टूट कर बिखर रहा है और उसके सामने पाब्लो नेरूदा पर कविताएँ लिखकर लोग आँखें लाल किये हुये हैं। हम जानते हैं कि साफगोई का मतलब प्रतिक्रियावाद कहा जायगा।

जब आधुनिकता को आलोचना के मूल्य के रूप में लेखक के वर्तमान को दर्शन माना जाता है तो यहां भी प्रगतिशील घुसपैठिये साथ होने लगते हैं। वे भी कभी-कभी 'अनुभव की प्रामाणिकता' एवं प्रतिबद्धता को अपने स्लोगन में शामिल करके कनफ्यूजन पैदा करते हैं अतएव आज की नयी आलोचना हमारे भीतर के उस स्थिति में है जो व्यक्ति के चारों ओर उसके परिवेश से सम्बद्ध है और जो उसके वर्तमान क्षण में केन्द्रीभूत है। यह क्षण अपने में संपूर्ण है, मनुष्य की चेतना का क्षण (खण्ड) भी संपूर्ण है। इसीलिए वह संपूर्ण क्षण इतिहास का क्रीत-दास नहीं है और न वह किसी भविष्य की परम्परा बनने के लिये पैदा हुआ है।

इसीलिए यह कहना गलत न होगा कि प्रगतिशीलता का दर्शन एक राज-

नीतिक विचार-धारा पर आधारित है और वह एक जगह ठहरा हुआ है जैसा पच्चीस वर्षों पहले था, आज भी है। जबकि मनुष्य की चेतना के केंचुल रोज ही बदलते गये जिन्हें पकड़ने व समझने के लिए आलोचना को रोज मनुष्य की गहराइयों में उतरना होगा। इसीलिए आलोचना व्यक्ति की सत्ता से उसके भीतर के अन्तर्द्वन्दों से जुड़े, तभी उसकी साहित्यिक सार्थकता है। यही कारण है कि व्यवस्था की आलोचना मात्र राजनीतिक या सामाजिक होगी किन्तु साहित्यिक नहीं। मतलब यह कि व्यक्ति के भीतर उसके प्रभाव को ढूँढ़ना होगा कि उसका अनुभव के रूप में क्या मूल्य है। यही मूल्य अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति-रूपों में संप्रेषणीय हो सकता है। मार्क्सवादी या प्रगतिवादी समीक्षा-सूत्र सामाजिक ढाँचे की बाह्य व्यवस्था का दर्शन करते हैं जो दर्शन स्थिर (स्टेटिक) है जबकि मनुष्य की चेतना के प्रत्येक क्षण, पूर्ण होकर गत्यात्मक (डाइनेमिक) है, सचेतन है। जितना मनुष्य चेतन होता है उतना उसके योग्य क्षणों में भी चेतना, सजीवता होती है। साहित्येतिहास में स्थित आलोचना मृत मूल्यों का विश्लेषक नहीं है।

साहित्येतिहास में आलोचना की गत्यात्मकता का आधार भी मनुष्य के चेतनक्षणों के निरीक्षण-परीक्षण में है। इस बात से दूर होने पर साहित्येतिहास में आलोचना का आधुनिकता से कोई सरोकार नहीं होता। साहित्य-सर्जन को दिशा देने का कार्य आलोचना द्वारा उसी तरह संभव है जैसा लोकतन्त्र में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता द्वारा संभव होता है। आलोचक की आत्मानुभूति (सब्जेक्टिव फीलिंग) कर पाना तभी संभव है जबकि वह सर्जन में क्षण की सत्ता के अनुभव तादात्म्य स्थापित करने में सक्षम हो।

———

साहित्येतिहास : सिद्धांत एवं स्वरूप

आज हिन्दी भाषा-साहित्य में साहित्येतिहास के प्रकाशन का स्तर गिरता जा रहा है। मैं समझता हूँ कि छायावाद के पश्चात् साहित्येतिहास-लेखन या तो पूर्वग्रहमूलक है या दल-प्रभावित है या आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास का अनुकरण व मात्र नकल है। मूल प्रवृत्ति की गहराइयों में पैठ करने की मानों क्षमता रही नहीं, इसका दोषी कौन? दोषी वह प्राध्यापक समाज है जिसके पास पाठक के रूप में विद्यार्थी वर्ग है, वे उनकी सामग्री के ग्राहक हैं और छपाई की पूर्ति के लिए उनके पास उक्त कारण से प्रकाशन संस्थाएँ भी हैं। साधन व सुविधा से सम्पन्न होने पर भी विश्वविद्यालय स्तर पर अभी तक ठीक-ठिकाने के साहित्येतिहास ग्रन्थ नहीं हैं, प्रायः बुजुर्आ प्राध्यापकों के मुख से सुना जाता है कि आचार्य शुक्ल का इतिहास ही श्रेष्ठ है और वैसा इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। साहित्येतिहास का श्रेष्ठ होना केवल काल-निर्धारण पर मात्र अवलम्बित नहीं, न उसके मूल्य-बोध के समाविष्ट होने मात्र पर ही। श्रेष्ठ साहित्येतिहास का होना उसके अनेक समाविष्ट गुणों व तत्वों की सम्पूर्णता पर निर्भर करता है।

आचार्य शुक्ल कृत साहित्येतिहास हिन्दी में प्रथम बार ऐसा प्रयास माना जायगा जिसमें वैज्ञानिक काल-निर्धारण करके प्रवृत्तियों के अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में कृतियों के मूल्य-बोध को प्रस्तुत किया गया है। उक्त गुण-वैशिष्ट्य के कारण अपने पूर्व साहित्येतिहासों से पृथक् माना गया आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास जहाँ एक ओर आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास में गुण-सम्पन्नता है, वहां काल-निर्धारण करने में प्रवृत्ति एवं समय के बीच साम्य नहीं है बल्कि पृथकता है। कवि-क्रम के प्रस्तुत करने की परिचयात्मक पद्धति, पूर्व साहित्येतिहासों की भाँति, सूची पेश करने जैसा टांकने का कार्य भी आचार्य शुक्ल ने सम्पादित किया। दूसरे शब्दों में आचार्य शुक्ल ने काल-निर्धारण का वैज्ञानिक आधार अवश्य स्वीकार किया, लेकिन कहीं प्रवृत्ति प्रमुख है, कहीं कवि का व्यक्तित्व अथवा मात्र कृतित्व। आज शोध-मूल्यों

का परिप्रेक्ष्य अधिक व्यापक हो गया है जिन्हें समाविष्ट करना उनके बाद के साहित्येतिहासकारों के धर्म में था। यह अधिक उचित होगा यदि समस्त मान्यताओं को समाविष्ट करके आचार्य शुक्ल की अशोधित सामग्री के पठन से हिन्दी पाठकों को बचा लिया जाता। आचार्य शुक्ल का काल-निर्धारण आउट आफ डेट है, उसमें वैज्ञानिकता आचार्य शुक्ल की समय-दृष्टि से अवश्य रही होगी। आचार्य शुक्ल के मूल्य-बोध का स्तर आज तो एकांगी कहा ही जायगा, उनके वर्तमान रहने पर ही अनेक उनके समकालीन लोगों ने उक्त आरोप किया था, चुनौती दी थी। मूल्य-बोध का स्वरूप सदैव आलोचक की निजी मान्यताओं के अनुसार अनुदृष्टि प्रधान हुआ करता है। आचार्य शुक्ल के काव्यगत प्रतिमान उनके तर्क पर आधारित हैं, उनका दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में विशेष एकांगी महत्व रखता है, यही कारण है कि कबीरदास व सूरदास तथा छायावाद के कवि आचार्य शुक्ल के प्रतिमान के सम्मुख उतना महत्व नहीं रखते जितना तुलसीदास या बाबू मैथिलीशरण गुप्त। सत्य तो यह है कि आलोचना व मूल्यांकन साहित्येतिहास का अनिवार्य गुण तत्व नहीं है, यदि वह न भी हो तो भी साहित्येतिहास को कोई क्षति न होगी। यदि हो, तो प्रतिमान की स्थिति-बोध उसके आलोचक-व्यक्तित्व का बोध माना जायगा।

आचार्य शुक्ल का इतिहास ठीक से देखा जाय तो उनके पूर्व के इतिहास परम्परा में भी वह व्यवस्थित हो जाता है और उससे हटकर भी दिशा-बोध देने में समर्थ है क्योंकि वह आज भी मूल्य-बोध की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। संकलन की प्रवृत्ति कवियों को काल-क्रम के अनुसार या कवि की कविता के उदाहरण पेश करने की शैली आदि वास्तव में शुक्ल जी पर पूर्व परम्परा का ही प्रभाव कहा जायगा। मूल्य-बोध को स्थिर करने का पक्ष वहाँ है जहाँ आचार्य शुक्ल अपने आदर्शवादी काव्य-मान्यता या सिद्धांत का व्यवहार आरम्भ से अन्त तक एक अविरल धारा के रूप में प्रवाहित करते हैं।............आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत इतिहास समसामयिक राजनीति, सामाजिक, धार्मिक स्थिति की व्याख्या मात्र नहीं है, बल्कि यह तो है ही, उसमें उनकी काव्यगत मान्यताओं का स्थिर संस्कार भी संयोजित है।

विकास सन्दर्भ एवं स्वरूप

साहित्येतिहास साहित्य और इतिहास दोनों की संधि से बना एक शब्द रूप है। स्व० पं० नलिनविलोचन शर्मा ने इस शब्द का प्रयोग किया है। लेखक उनका आभारी है। किन्तु उन्होंने विभ्रमित होकर 'साहित्य का इतिहास

दर्शन' में उक्त शब्द का प्रयोग करके भी साहित्येतिहास को कहीं साहित्य का
इतिहास और कहीं साहित्यिक इतिहास लिखा है। उक्त पुस्तक में उन्होंने
पश्चिमीय भाषाओं की सामग्री का मात्र अनुवाद किया है। मैंने 'साहित्येतिहास'
शब्द को एक टर्मलाजी के रूप में अनेक आंग्ल-कोशों में देखने की व्यर्थ चेष्टा
की। आंग्ल-भाषा में 'साहित्येतिहास' के लिए केवल 'लिटरेरी हिस्ट्री' मात्र
पारिभाषिक शब्द मिलता है। मैंने तदुपरान्त हिस्ट्री आफ लिटरेचर मानकर
संतोष किया था। किन्तु हिस्ट्री व लिटरेचर की संधि से क्या आंग्ल-भाषा में
टर्म नहीं बनाया जा सकता ? लिटरेरी शब्द लिटरेचर का विशेषण है। यदि
हम किसी शासक के काल का साहित्यिक विवेचन करें तो उसका स्वरूप
लिटरेरी होकर उस-काल विशेष के हिस्ट्री को व्याख्यायित न करेगा। दुस्साहस
ही है कि मैं हिस्ट्री (History) से हिस्टा (Histo) और लिटरेचर से लिट्
लेकर संधि रूप में 'हिस्टालिट्' कहना उचित समझता हूँ।

साहित्येतिहास के अन्तर्गत 'विकास' प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ भी
स्वीकृत हैं। इतिहास और विकास में शाब्दिक अन्तर के साथ ही साहित्ये-
तिहास के सन्दर्भ में भिन्न अर्थ होंगे। इतिहास में विकास अंतर्भूत होता
रहता है। इतिहास में विकास का उतना ही आग्रह है जितना पतन का।
विकासवादी सिद्धांतों में 'विकास' से पतन भी जुड़ा है। साहित्येतिहास में
इतिहास की परिभाषा में यथातथ्य रूप में स्वीकृत भूतकालिक घटनाओं
का विवरण निश्चय ही मान्य किन्तु इतिहास के अपने यथारूप व रूढ़ रूप
से भिन्न साहित्येतिहास में होगा। साहित्येतिहास में इतिहास गुण व तत्व रूप
में नहीं है बल्कि वह बाह्य कंकाल व स्वरूप-बोधक अधिक है और उसमें
निहित मूल चेतना विकास है या पतन। साहित्येतिहास में इतिहास की घटना
गौण है और प्रवृत्ति प्रधान। जहाँ साहित्येतिहास में घटना की प्रधानता उसे
स्थूल बना दे, वहाँ वह वृत्त संकलन बन जायेगा (मात्र कंकाल शेष रह जायगा)
और साहित्येतिहास हो जायेगा। प्रवृत्तियों के संश्लेषण-विश्लेषण के अभाव-
वश कृतियों का व्यापक रूप में मूल्य-निर्धारण नहीं हो पाता और साहित्ये-
तिहास का इस अभाव में हृदय की गति जैसा बंद होने का परिणाम होता
है। वृत्त के घटनामूलक रूप में प्रस्तुत होने से क्या प्रवृत्ति उसमें अंतर्भूत
होने की स्थिति खो बैठती है ? प्रवृत्तियों के स्थूल व्यापार घटना-प्रधान तो
होते ही हैं। इस प्रकार वृत्त की उपेक्षा भी किसी सीमा तक नहीं की जा
सकती। प्रवृत्ति विश्लेषण में घटनायें या तो साम्य दिखाने के लिये पुष्टिकरण
की निमित्त बनती है।

प्रवृत्तियों का विकास दर्शाना सम्भव नहीं क्योंकि प्रवृत्तियां विकासमात्र नहीं होतीं बल्कि वे व्यापक होकर गहराइयों के बीच जाकर मानव-मन को उत्प्रेरित करती हैं। विकास ऊँचाई (ग्रंथ) का बोध अधिक देता है। विकास शब्द का प्रयोग औचित्य अध्ययन के बाह्य अंग-रूप में अधिक है।

साहित्येतिहास में इतिहास पक्ष के अध्ययन के लिये "विकास" के सन्दर्भ में 'विकासवादी सिद्धान्तों का जानना आवश्यक है, तत्पश्चात् प्रवृत्ति और मानव-जीवन के मूल्यों का पक्ष समझना आवश्यक होगा और तब इतिहास के स्वरूप व सिद्धान्त से परिचित होना होगा। इस अध्ययन के पश्चात् ही साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध-सूत्रों को देखते हुए साहित्येतिहास की परिभाषा बन सकेगी।

इतिहास का अध्ययन विकासवादी सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में रख कर उसे वैज्ञानिकता के निकट लाकर किया जाता है। निस्संदेह इतिहास के भीतर विकास व विकास के भीतर व्याप्त विनाश की प्रक्रिया द्वन्द्वमूलक है, अतएव द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से इतिहास का अध्ययन एक आवश्यक माँग है। विकासवादी सिद्धान्तों के चिंतन का अध्ययन करना इस समय उचित होगा, औचित्य का निर्णय बाद में करेंगे। यह मान्य सत्य है कि सृष्टि के भौतिक-तत्वों का मानव-जीवन की सभ्यतागत दृष्टियों का विकास हुआ है, आकस्मिक रूप से कुछ भी होना सम्भव नहीं, चूँकि क्रमशः उपलब्धियों के रूप में मानव-जाति ने प्रकृति से संघर्ष करते हुए जो समाहरित किया है, उसके मूल में विकास की प्रक्रिया है। विकास की प्रक्रिया को विज्ञान-सम्मत माना जाता है क्योंकि उसके अध्ययन के लिए वास्तविकताओं पर आधारित क्रमबद्ध अध्ययन की सजग प्रवृत्ति को प्रधानता दी जाती है। विकास के निरूपण में चूँकि उद्भव से लेकर वर्तमान तक एक सूत्र में सम्पूर्ण अर्जित को व्याख्यायित करने की दृष्टि होती है। इसलिये उसके प्रस्तुतीकरण में सिद्धान्त व कुछ प्रतिमान निर्धारित किये जाते हैं जो तर्क-सम्मत मस्तिष्क के प्रश्नों का उत्तर भी दे सकें। विकासवादी सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में अनेक अधुनातन ज्ञान व विधायें हैं जिनका अध्ययन के लिए आश्रय लेना पड़ता है, जैसे—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण, मनोविज्ञानीय दृष्टिकोण, जीव-विज्ञानीय दृष्टिकोण, भौतिक विज्ञानीय दृष्टिकोण आदि। यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है कि साहित्येतिहास में विज्ञान की उक्त विज्ञानीय प्रणालियों को क्यों स्वीकृत किया जाय जबकि

साहित्य कलान्तर्गत है और सार्वभौमिक तत्वों से युक्त है तथा देश काल की मर्यादाओं से परे हैं। किन्तु चूँकि हम इतिहास की दृष्टि से साहित्य की समस्त प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हैं इसलिए अध्ययन के प्रतिमान के लिए इतिहास-दृष्टि के अनुसार उसके निर्धारित-सूत्रों को व्यवहृत तो करना ही पड़ेगा। जैसे 'हृदय की कोमलता अपने स्थान में, शरीर में स्थित है किन्तु एक चिकित्सक के लिए उसे अपने विज्ञान की दी हुई कैंचियां या चाकू का प्रयोग करना पड़ता है।' ठीक इसी तरह इतिहास के अध्ययन पक्ष को वैज्ञानिक और सम्मत के बनाने के लिए हमें विकासवादी सिद्धान्तों के पक्ष से शल्य-चिकित्सा के निदान को स्वीकार करते हुए चलना पड़ता है। इस प्रकार के अनेक मत हैं। हम उन मतों की व्याख्या पहले कर लेना चाहते हैं ताकि उसकी उपयोगिता सम्बन्धी दृष्टिकोण पर अपना निर्णय दे सकें। विकासवाद पर जो मौलिक प्रतिपादकों के मत हैं, उनमें हिरोदोतस (४५६-४४५ई० पूर्व), विको (१६६८-१७४४ ई०) काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) हीगेल, डारविन, हर्बट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स आदि को सबसे पहले देखूंगा। विकास का अर्थ पर्याय रूप में Evolution नहीं हैं, मैं Growth मानता हूँ। Evolution में उद्‌भव मात्र का अधिक बोध है, उत्पन्न का तात्पर्य अधिक है। विकास प्रकृति की देन है, विकास इसीलिए हुआ करता है। विकास में 'होने' की संभावना व्याप्त रहती हैं। यह नेचुरल प्रोसेस या नेचुरल फोर्स पर आधारित है किसी भी भौतिक वस्तु जो तथ्य व सत्य प्रधान हैं वह नवीन नहीं है इसलिए उसके निरन्तरता के सन्दर्भ में परिवर्तन का ज्ञान किया जा सकता है। विकास भौतिक सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के साथ संलग्न है, वह निरन्तरता व परिवर्तनशीलता के गुण से युक्त है इसलिए उसके सद्‌भव से विकास की समस्त गति-सोपानों का अध्ययन किया जाना सम्भव है।

यूनानी विद्वान हिरोदोतस ने इतिहास को खोज व अनुसंधान के रूप में अर्थ दिया था। इतिहास को 'ह्युमेनटीज' के सन्दर्भ में माना और इसके मूल्यों में विवेचनात्मक व आलोचनात्मक दृष्टिकोण को प्रणाली के रूप में स्वीकार क़िया है। इतिहास को हिरोदोतस ने 'परिवर्तन की प्रक्रिया' कहा है क्योंकि इसकी व्याख्या में, अतीत के घटित समस्त परिवर्तन जो मानवजाति से सम्बंधित हैं, पर आधारित होकर उत्थान-पतन का दर्शन होता है। हिरोदोतस का नाम उल्लेखनीय इसलिए है कि उसने "परिवर्तन की प्रक्रिया" के सन्दर्भ को भौतिकवादी दृष्टिकोणी से स्वीकार किया है। उसके "आलोचनात्मक" व "विवेचनात्मक" शब्द प्रयोग से यह जाना जाता है कि उत्थान-पतन की

व्याख्या में अनुदृष्टि का पक्ष प्रबल हो और ऊहापोह द्वारा परिवर्तन के मूल्यों को तर्क-सम्मत बनाया जा सके।

जाम्बे तिस्ताविको इटालियन विद्वान है। विको ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Scienza Nuova (१७२५) में इतिहास को केवल भूतकालीन घटनाओं तक सीमित नहीं करता बल्कि उसकी सत्ता को वर्तमान युग के लिए स्वीकार करता है। मानवीय प्रवृत्तियों का व्यापार चूँकि एक सम की स्थिति में निरंतर रह रहा है इसलिए वह इतिहास के निर्माण का स्वयं केन्द्र-बिन्दु है, इतिहास मानव-प्रवृत्तियों के चारों ओर घूमता है। विको ने ऐसी कोई खास स्थापना नहीं की है जो भौतिकवादी सन्दर्भ में विकासवादी सिद्धान्त पर प्रकाश डाल सके। किन्तु उसका स्थान इतिहास को नयी व्याख्या के कारण है।

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल ने ही इतिहास-संदर्भ में "विकास" में "द्वन्द्व" की स्थितियों को देखा व समझा। इतिहास में प्रस्तुत अतीत की कोई भी घटना अपने सूक्ष्म में कोई आन्तरिक प्रयोजन को दर्शाती है। सृष्टि की प्रकृति में गति व अगति का पारस्परिक संघर्ष ही द्वन्द्व बोधक है। इसी प्रक्रिया को स्थापना Thesis, प्रतिस्थापना Anti-thesis एवं समन्वय Synthesis के रूप में हीगेल ने प्रतिपादित किया है। आकर्षण व विकर्षण के सन्दर्भ में हुए घात-प्रतिघात में संतुलन की स्थितियों का उद्‌भव होता है। सृष्टि के विकास में व्याप्त विरोध-तत्व के मध्य द्वन्द्व व संघर्ष होता है और तत्पश्चात् समन्वय होता है। हीगेल के इस दार्शनिक मत को जब हम "विकास" की व्याख्या के माध्यम से इतिहास पर व्यवहृत करते हैं तो स्पष्ट ही इतिहास के सम्पूर्ण अर्थ में द्वन्द्व का आशय प्रगट हो जाता है। किन्तु उसने व्यक्ति और समाज की सत्ता का एकान्तिक विरोध किया और व्यक्ति और सृष्टि को परोक्ष-सत्ता की योजना का एक अंग-मात्र माना। व्यक्ति की ऐसी उपेक्षा इतिहास में पहली बार हुई थी। प्रतिक्रिया-स्वरूप सारेन किर्के गर्द ने अस्तित्ववाद की आधारशिला रखी। घटनायें प्रयोजनशील हैं इतिहास में, मात्र निमित्त है, किसी प्रवृत्ति पक्ष के पुष्टिकरण के लिए।

चार्ल्स डॉरविन जीव-विज्ञानीय विचारक है जो मानव-जाति का उद्‌भव विकासवादी सिद्धान्तों के सन्दर्भ में बंदर से मानता है। उसका ग्रन्थ सन् १८५९ में प्रकाशित हुआ था-'The origin of specius' डारविन मानता है कि संसार में जीव-धारी समस्त प्राणी-समुदाय में सृजन की अद्‌भुत शक्ति है, प्रकृति समस्त प्राणी समुदाय की रक्षा नहीं कर सकती, अतएव प्राणी-समुदाय स्वयं में पुष्ट होकर अपने अस्तित्व की रक्षार्थ संघर्षरत रहता है, इसी

को आंग्ल में Struggle for the existence एक जीव दूसरे का आहार बन सकता है, अतएव अपने सुरक्षार्थ एक जीव उपायों को स्वयं ढूँढ़ लेता है तभी तो जीवन का महत्व है। अपनी सत्ता को बनाए रखने में किए गये संघर्ष में जो सफल रहते हैं वे ही प्रकृति द्वारा अनुकम्पित होते हैं अर्थात् प्रकृति भी उन्हीं को सरंक्षण देती है जो अपनी शक्ति द्वारा आत्म रक्षा कर पाते हैं अन्यथा जो नहीं कर पाते हैं वे क्रमशः समाप्त हो जाते हैं। प्राणियों की मनोवृत्तियाँ होती हैं जो परिर्वातित वातावरण के अनुकूल गतिशील होती हैं और यही गुण प्राणियों से उत्पन्न अन्य जीव-संतानों में भी विकसित होता है अर्थात् परिवर्तन के अनुकूल आचरण करना उनका स्वभाव बन जाता है। वातावरण को अनुकूलता में यदि परिवर्तन सम्भावित हुआ है तो डारविन के अनुसार प्रकृति उसे स्वीकृति प्रदान करती है। कथन का तात्पर्य हुआ है कि परिवर्तन का प्रक्रिया में अनुकूलता वाला ही पक्ष प्रकृति की प्रकृति है। इतिहास में डारविन के इस सिद्धान्त को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि मानव-जाति वंश-परंपरागत गुणों का अधिक महत्व है और इतिहास केवल प्रकृति की अनुकूलता में स्थित मात्र परिवर्तन को लेकर नहीं चलता तथा अस्तित्व के लिए किए गए संघर्ष में इतिहास मानवीय उपलब्धियों के साथ अन्य मूल्यों को भी समेटता है जो संघर्ष से टकराकर चूर हो जाते हैं जहाँ प्रकृति संरक्षण नहीं दे पाती। डारविन का सिद्धान्त बहुत कुछ खण्डित हो चुका है, यहाँ तक कि जीव-विज्ञान के क्षेत्र में भी, तब इतिहास के संदर्भ में उसके विकास में स्थित संघर्ष व संरक्षण सम्बंधी मत पुराना पड़ गया है।

विकास के प्रतिपादन में हरबर्ट स्पेंसर का मत अत्यन्त मौलिक है। वह शक्ति (Force) को ही विश्व की संपूर्ण स्थिति का केन्द्र मानता है। स्पेंसर ने फोर्स को मैटर (वस्तु सम्पदा) एवं गति (Motion) के रूप में वर्गीकृत किया है। चूँकि वस्तु सम्पदा चूँकि मैटर है, जड़ है, स्थिर (Static) है और गति (Motion) अपने सूक्ष्म रूप में अस्थिर है। एक भौतिक है, जड़ है और दूसरा चेतन अथवा गति है। शक्ति वस्तु (Matter) आकार स्वरूप में परिर्वातित होता है। जब वस्तु एवं चेतन गति के मध्य घात-प्रतिघात की संघर्षमूलक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो क्रमशः उत्थान एवं पतन की क्रिया संपादित होने लगती है। शक्ति (Force) जब भौतिक वस्तु के स्वरूप में परिर्वातित हो तो उसका अधार "निश्चित" एवं "स्पष्ट" होने लगता है। यह आकार के रूप में स्पष्ट गोचर होने के कारण विकास माना जाता है। जब वही शक्ति (Force) 'विघटन' को ग्रहण कर "अस्पष्ट" हो जाता है तो वह पतनोमुखी

माना जाता है। इस मत-प्रतिपादन में स्पेंसर शक्ति के संघटित व विघटित स्थितियों में प्रस्तुत विचार रखता है कि विकास की प्रक्रिया वस्तु की संघटन एवं चेतनता के विखराव या फैलाव में है क्योंकि इसके पूर्व वस्तु को निश्चितता का बोध कर पाना सम्भव नहीं हैं। विकास की स्थिति किसी भी वस्तु की स्वरूपात्मकता में है। इसके अभाव में हम ह्रास का लक्षण पायेंगे क्योंकि उसके स्वरूप का विघटन हो जाता है। स्पेंसर का यह मत इतिहास के उस पक्ष को व्याख्यायित एवं निरूपित करता है जिससे अध्ययन का सम्बंध है। किसी वस्तु का होना और उसके संघटित स्वरूप में घटना व्यापारों की संभावना निश्चय ही विकसा की प्रक्रिया होगी जो इतिहास के अन्तर्गत स्वीकृत होता है तथा इतिहास में उत्थान के साथ संलग्न पतन के पक्ष की भी गुंजाइश है क्योंकि वस्तु एवं चेतन गति के बीच विघटन तत्वों की उपस्थिति में पतन का बोध किया जा सकता है।

स्पेंसर का यह सिद्धान्त विचार क्षेत्र में इतिहास-दृष्टि को व्यापक-फलक प्रदान करता है।

कार्ल मार्क्स

द्वन्दात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद जैसे प्रसिद्ध विचार-चिंतन का प्रस्तुतकर्ता कार्ल-मार्क्स (१८१८-८३) का मत विकासवादी दृष्टिकोण को ब्यवस्थित आधार देता है जिसमें इतिहास की वस्तु स्थिति को सहज समझा जा सकता है। मार्क्स ने विकास को द्वन्द्व में माना है। सम्पूर्ण सृष्टि भौतिक जड़ व वस्तु सम्पदा है। सृष्टि के समस्त भौतिक व्यापारों में निर्माण के साथ विरोधी-तत्वों का भी अस्तित्व होता है। जिस वस्तु की सत्ता है, उसके साथ विनाश की एक विरोधी-प्रक्रिया भी संलग्न है, इस प्रकार दोनों के मध्य संघर्ष की स्थिति को द्वन्दात्मक (Dialectical) कहा है। द्वन्द्व की प्रक्रिया ही विकास का मूला-धार है। उत्थान और उसके अन्तस् में विद्यमान ह्रासोन्मुखी विनाश की प्रक्रिया इतिहास में चक्रित किसी समन्वय की खोज में एंजिल्स कहता है कि 'गतिहीन पदार्थ की कल्पना वैसे ही नहीं की जा सकती जैसे पदार्थहीन गति की[1]। हीगेल के अतिरिक्त मार्क्स ने भी निर्माण की प्रक्रिया को स्थापना (Thesis) और उसके विरोधी तत्व की गतिशीलता को प्रति-स्थापना (Anti-thesis) एवं

1—Matter without motion is just as unthinkable as motion without matter.—Engels.

दोनों के परस्पर संघर्ष में समन्वयता (Synthesis) विकास माना है। भौतिकवादी सृष्टि की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को ऐतिहासिक सत्य के रूप में मार्क्स ने स्वीकार किया है। कार्ल मार्क्स की समाज-व्यवस्था वाली चिन्तन पद्धति ऐतिहासिक भौतिकवाद है। मार्क्स ने द्वन्द्व के साथ प्रकृति की भौतिक-सत्ता, वातावरण एवं उत्पादन (Production) की आर्थिक दृष्टि से वैचारिक स्थापना की है इतिहास के अध्ययन को वैज्ञानिक एवं सम्मत रूप देने के लिये अनेक विद्वान आग्रह करते हैं।[1] ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स यह मानता है कि प्रकृति के भीतर वस्तुगत सूत्रों एवं नियमों के अनुसार जैसी परिचालित होने की प्रक्रिया है वैसा ही समाज के जीवनगत मूल्यों में परिवर्तन व विकास की प्रक्रिया है स्थापना एवं प्रतिस्थापना के मध्य परस्पर विरोधी स्थितियों के मध्य समन्वय के विन्दु की तलाश ही 'साम्य' है और पुनः जब समन्वय (सिन्थिसिस) प्रधान साम्य में से ही स्थापना के विरुद्ध पुनः उत्पन्न विरोधी स्थिति की पुनरावृत्ति होगी जो डायलेक्टिकल-द्वन्द्व के रूप में पारिभाषित होगा। कार्ल मार्क्स के प्रतिपादन में इतिहास से अध्ययन की नयी सामाजिक यथार्थ व्याख्या हैं। पूँजीवाद के सामाजिक पक्ष की आलोचना इसी द्वन्द्वमूलक प्रक्रिया से देखकर ही कार्ल मार्क्स ने उसके व्यावहारिक स्वरूप को शोषित-पीड़ित जन के संदर्भ में देखकर वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) की परिकल्पना की।

हर्बर्ट स्पेन्सर की मान्यताओं और कार्ल मार्क्स के विचारों के बीच यदि कहीं प्रार्थक्य है तो यही कि कार्ल मार्क्स ने द्वन्दात्मर प्रक्रिया द्वारा कारण (Reason) को आधार माना है तथा यही द्वन्दात्मक प्रक्रिया[2] स्पेन्सर के पास

1—ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रवर्त्तकों और योग्य अनुयायियों के साहित्य-विषयक बिखरे हुए विचारों को सी तागकर सुथना तैयार करने से हिन्दी साहित्य का इतिहास ढँक नहीं सकता।............सबसे पहले हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिये द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग।

डा० नामवर सिंह, आलोचना, इति० अंक ५, पृ० १४।

2—द्वन्दवाद सृष्टि के विकास को आध्यात्मिक अधिदर्शनवादियों की भाँति वर्तुलाकार नहीं मानता। उनकी चिन्तन-प्रणाली में परिवर्तन का अप्रतिम महत्व है। द्वन्दवादियों का इसमें विश्वास नहीं कि इतिहास अपने को दुहराता है। वह एक ऐसे विकास में विश्वास करता है कि वह एक विशेष आस्था तक, एक विशेष परिश्रम तक पहुँचने पर वस्तु-विशेष में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। नवम् समीक्षा, पृ० २०१ कृ. व. जौ.

मौलिक रूप में जो है वह भौतिकवाद से परे है। इस दृष्टि से हीगेल का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह द्वन्द को आदर्श से सम्बद्ध रखता है। यदि मार्क्स के द्वन्द को मौतिकवादी कहेंगे तो हीगेल के विचार-दर्शन (Dialectual Idealism) कहेंगे।

सिद्धान्त पक्ष

साहित्येतिहास को विधा-रूप दिया जाना चाहिये। विद्या ललित व रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अंग-रूप में स्वीकृत होती आयी है। निःसंदेह, विधा-बोध रचनात्मकता व कृतित्व में है किन्तु विवेचन, आलोचन, समीक्षा में भी है, क्या उसके मूल उत्सव में रचना का मूल्य ही विकसित होता है? विधा की परिभाषा होगी वह साहित्य का अंग-विशेष जिसकी पूर्णता में अनेक सहायक तत्वों का समावेश हो और वह अपनी प्रेषणीयता में अथवा अभिव्यक्ति शैली में मौलिक भिन्नता व अस्तित्व रखता हो। साहित्येतिहास का उद्देश्य मूलतः अपनी अभिव्यक्ति में समूचे देश या प्रदेश की भाषा के साहित्य-दर्शन द्वारा विभिन्न युग व काल का संस्कृति व सभ्यता, मानवता व जातिगत गुणों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। साहित्येतिहास-लेखन प्रबंधात्मक है। साहित्येतिहास विधा इसलिये भी मैं मानता हूँ कि उसके अन्तर्गत निश्चित नियम, सिद्धान्त, मान्यता व कसौटियाँ हैं और उक्त शर्तों की पूर्ति के लिये साहित्येतिहास लेखक बाध्य हैं और शर्तों के अभाव में वह विधा-रूप में पारिभाषित नहीं कर सकेगा।

साहित्येतिहास के इतिहास पक्ष की स्थिति-निदर्शन से जानना चाहिये कि इतिहास के अन्तर्गत विवेचित प्रवृत्ति-दर्शन का स्वरूप क्या होगा? मैं समझता हूँ कि साहित्य के माध्यम से जो युग-समाज में फैली प्रवृत्ति है, वही यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करना साहित्येतिहास लेखन-धर्म में स्वीकृत होगा। विचारणीय है कि साहित्येतिहास में इतिहास पर साहित्य प्रवृत्तियां आच्छादित होती हैं या साहित्य पर इतिहास प्रभावशाली होता है? इतिहास स्वयं में साहित्य से उतना ही निर्मित होता है जितना मूर्ति-कला, चित्रकला या शासन-प्रबंध से। युग-बोध जो साहित्य द्वारा हो, वह इतिहास में स्वीकृत होगा ही। इतिहास की सम्पूर्णता में सहायक व पूरक तत्व है इसलिये साहित्य में युग-सत्य को प्रधानता देते हुए उसे इतिहास-रूप मान लेने में मैं पीछे हटने के लिये विवश होता हूँ क्योंकि साहित्य तो इतिहास देता और इतिहास-क्रम में साहित्य-

विवेचन होने से साहित्य इतिहास से कहीं भी हीन नहीं है। साहित्य का इतिहास, साहित्य-इतिहास, साहित्येतिहास नामकरण में साहित्य-निर्माण का स्थूल-क्रम-निर्धारण "सूचीपत्र" प्रधान हो जाता है। दोनों के बीच एक संधि की खोज होनी चाहिये। केवल "लिटरेरी हिस्ट्री" को साहित्येतिहास मान लेने से किसी भी अभीष्ट की पूर्ति नहीं होगी। "लिटरेरी हिस्ट्री" की अनेक आंग्ल विद्वान साहित्येतिहास-सन्दर्भ में पारिभाषिक अर्थ-बोध देते हैं, किन्तु "लिटरेरी" शब्द "हिस्ट्री" का विशेषण है। इतिहास से साहित्य-निर्माण-क्रम और साहित्य से प्रवृत्ति-दर्शन का सत्य-बोध, दोनों का समन्वय होना चाहिये।

स्वरूप (फार्म) के अन्तर्गत रचना-क्रम, कवि-जीवनी-पक्ष, वंशावली अथवा बहिर्साक्ष्य से प्राप्त सूचनाएँ, वर्गीकरण, काल-विभाजन या युग-विभाजन आदि स्वीकृत होंगे। तत्व (कण्टेंट्स) के अन्तर्गत साहित्य की मूल सवेदनशील, भावनागत चेतना, प्रवृत्ति, जीवन-दर्शन, सौंदर्यबोध, संस्कृति, ऐतिहासिक परि-प्रेक्ष्य में युग-बोध, सभ्यता, धर्म, विश्वास, परम्परा, प्रकृति चित्रण-सन्दर्भ भौगो-लिक ज्ञान एवं मूल्य आदि स्वीकृत होंगे। सामान्यतः जीवन-परिचय, वंशावली-परिचय, रचना-परिचय के प्रस्तुतीकरण से साहित्येतिहास की आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। फार्म से केवल कंकाल की सृष्टि ही सम्भव है, केवल साहित्येतिहास को आकार दिया जा सकता है किन्तु इतने मात्र संयोजन से किसी भी विधा में चेतना या गति नहीं उत्पन्न की जा सकती। दूसरे शब्दों में, स्वरूप (फार्म) किसी भी विधा के बाह्यान्तर आकार देने में समर्थ होता है। परिणाम-स्वरूप साहित्येतिहास "तत्व" (कण्टेण्ट) और "स्वरूप" (फार्म) के परस्पर अनुपूरक तादात्म्य से ही वह पूर्ण बनता है। तत्व (कण्टेण्ट्स) के स्थापना का कार्य (संस्कृति-दर्शन, प्रवृत्ति-दर्शन, युग-दर्शन, मानव-दर्शन) वस्तुतः साहियेतिहास के प्रबंधत्व में निहित औदात्य जैसी अपेक्षा का महत् कार्य है। साहित्येतिहास में इतिहास-क्रम या क्रम (क्रानालाजिकल आर्डर) और उसके वर्गी-करण द्वारा प्रस्तुत काल-निर्धारण स्थूल अंग-प्रत्यंग बोधक कार्य मात्र है।

'साहित्येतिहास' विधा में अतिरिक्त आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए। भाषा, भाषा-क्षेत्र, भाषा-क्षेत्र का भौगोलिक अध्ययन आदि। इसके पश्चात् साहित्य-अध्ययन का पक्ष स्वीकार होना चाहिए। मैं हिन्दी को 'भाषा' नहीं मानता क्योंकि हिन्दी वस्तुतः उत्तरभारत की बोलियों की सामू-हिक एकता की प्रतीक मात्र है, दूसरे शब्दों में उत्तरभारत की बोलियों का

साहित्येतिहास ही हिन्दी का साहित्येतिहास है। जिस प्रकार वादों का उद्भव होता है और उसके माध्यम से प्रवृत्ति-दर्शनों का घटाटोप किसी एक युग-विशेष को प्रभावित करता है, उसी प्रकार हिन्दी के अन्तर्गत बोलियों का विभिन्न युगों में महत्व मिलता रहा है, जैसे आरम्भ अपभ्रंश, मैथिल, ब्रज, अवधी और आज खड़ी-बोली। अन्य बोलियां केवल लोक-वार्त्ताओं में केवल बकवास बनकर जीवित रही इसलिये साहित्येतिहास में उनका कोई महत्व नहीं रहा। प्रत्येक भाषा व बोलियों का अपना भौगोलिक क्षेत्र होता है। भाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियां एवं उप-बोलियां होती हैं किन्तु हिन्दी के साथ ऐसी मान्यता व्यवहृत करना असंगत होगा। यह कहा जा सकता है कि 'हन्दी' संस्कृति को जीवित रखने के लिये बोलियां साहित्य-बोध देने में सक्षम् होकर 'भाषा' ही थीं। जब उनका उपयोग या व्यवहार दैनिक जीवन या सभ्य समाज से उठ गया तो वे पुनः 'बोली' हो गयीं। मेरा कहना है कि साहित्य की समृद्धता पा जाने के कारण बोली भाषा के रूप में मान्य हो जाती हैं। तब प्रश्न उठता है कि 'संस्कृत' आज व्यवहार में नहीं है तो 'बोली' क्यों नहीं मानी गयी ? संस्कृत जीवन में नहीं किन्तु जीवित साहित्य के कोश के कारण एवं अपनी प्राच्यता के कारण 'क्लासिकल' भाषा के रूप में मात्र जीवित हैं। हिन्दी की बोलियां अपने भौगोलिक क्षेत्र में, जन-जीवन विशेष में आज भी जीवित हैं किन्तु सभ्यता के आवरण में उनका भाषा-गुण ढक गया है।

भाषा-क्षेत्र-सीमा का निर्धारण-कार्य भौगोलिक प्रतिमानों पर आधारित होता है। उदाहरण के लिये 'अवधी' का अध्ययन भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में यदि किया जाय तो बस्ती, गोण्डा, बहराइच, फैजाबाद, सुल्तानपुर, पूर्व इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, जौनपुर, (आजमगढ़ मार्ग से १० मील तक) आदि के माध्यम से एक क्षेत्र-सीमा-रेखा तैयार की जा सकती है और उसकी सीमावर्ती बोलियों (जैसे भोजपुरी, बैसवाड़ी, खड़ी बोली) के प्रभाव आदि का भी अध्ययन किया जा सकता है। इसके पश्चात् ही उस क्षेत्र की भौगोलिकता के परिप्रेक्ष्य में रीति-रिवाज, परम्परा, विश्वास, धर्म, संस्कृति, साहित्य का अध्ययन करना न्याय संगत होगा। भौगोलिक विशेषताओं के ज्ञान से ध्वनि उच्चारण आदि का भी महत्व सहज ही बोधगम्य हो सकता है। साहित्येतिहास के विधागत गुण को स्पष्ट करने की उद्देश्य-पूर्ति में बोली या भाषा की भौगोलिक सीमांतर्गत प्रकृति-वैभव और उससे उद्भूत व विकसित परम्पराओं व धारणाओं का ज्ञान व बोध करना नितान्त आवश्यक है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई रचनाकार अपने भूगोल व प्रकृति से पोषित जीवन-

परम्पराओं से पृथक रहता है। वह अपनी भाषा या बोली क्षेत्र की वनस्थली प्राकृतिक सुषमा, पादप-पुष्प, पशु-पक्षी एवं जलवायु से भिन्न दिशा में यदि जाता है तो अपने जीवित रहने के धर्म से विपरीत जायगा। क्षेत्रीय संस्कृति का निर्माण भौगोलिक परिवेश में भाषा व बोली साहित्य के माध्यम से होता है। जैसा मैं कह चुका हूँ कि हिन्दी के स्वरूप-निर्माण में बोलियों के साहित्य-सृजन का ही अस्तित्व है। 'हिन्दी' भाववाचक (एकता-बोधक होने के कारण) संज्ञा है यदि पूर्णतः शास्त्रीय दृष्टि को रखकर भौगोलिक क्षेत्र-सीमा की मान्यता को व्यवहृत कर दिया जाय तो विघटन की प्रवृत्ति अधिक मर सकती है इस दिशा में बोलियों के साहित्येतिहास की बात आ जायगी। सभी बोली इकाईयों में स्वतंत्र सत्ता रखने लगेंगी। उर्दू खड़ी-बोली की शैली मात्र है तो उसे हिन्दी साहित्येतहास में स्वीकृति न देने से उसकी स्वायत्तता को भाव बैठने के लिये कभी-कभी विद्वान विवश हो जाते हैं। भौगोलिक परिवेश केवल साहित्य के अध्ययन की पृष्ठभूमि होनी चाहिये। ताकि प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य का उद्घाटन साहित्येतिहास में गुणात्मकता उत्पन्न करने की दृष्टि से हो और भाषा व बोली क्षेत्र की संस्कृति व जन-जीवन में भौगोलिक प्रभाव किन रूपों में उपलब्ध है, यह भी जाना जा सके।

युगेतिहास

भाषा व बोलियां युग-बोध देने में तथा इतिहास-बोध देने में समर्थ होती हैं। हिन्दी साहित्येतिहास साक्षी है कि उत्तरभारत के मध्ययुगीन धार्मिक आन्दोलन को हिन्दी बोलियों ब्रज एवं अवधी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। साहित्य के मान्य स्तर को बुंदेली या अन्य बोलियां नहीं स्पर्श कर सकीं थीं इसलिये उनका युग आया ही नहीं, जबकि मैथिल का युग हिन्दी साहित्येहिास में ब्रज व अवधी से पूर्व विद्यापति के माध्यम से आ चुका था। युगेतिहास साहित्येतिहास का एक अविभूत गुण व तत्व है। प्रत्येक साहित्यिक रचना अपने युगेतिहास को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। युग-बोध, युग-समाज; साहित्य-समाज का दर्पण आदि शब्दों व वाक्यों का प्रयोग वस्तुतः युगेतिहास के लिये सन्दर्भ रूप में होता है। युगेतिहास एक तत्व (एलिमेंट) है जिसके अभाव में रचना का जीवन नहीं होता। सामयिकता युगेतिहास का गुण-बिन्दु-क्षण है। युगेतिहास स्थानीयता, देशकाल, वातावरण की प्रधानता, युगीन जीवन-दर्शन, युग-विशेष की सामाजिक परम्परा में व विश्वासों की सम्पूर्णता को कहेंगे। युगेतिहास का सम्बन्ध रचना में कथानक रूढ़ियों के माध्यम से जाना जा सकता है।

वर्गीकरण

साहित्येतिहास का वर्गीकरण की सम्भावना युगेतिहास, विधा रूप से किये गये अध्ययन, प्रवृत्ति-निरुपण युग बोधक व्यक्ति विशेष की केन्द्रीयता के प्रकाश में किए गये अध्ययन पर ही सम्भव है। आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास "सम्पूर्ण" के अन्तर्गत स्वीकृत होगा क्योंकि उसमें सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन हुआ है।

(खण्ड (२) साहित्येतिहास एवं युग-साहित्येतिहास (३) में क्रमशः डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृति "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" एवं डा० शम्भू-नाथसिंह कृत "छाया-वाद युग" स्वीकृत होगा। "हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास आदि कृतियां विधात्मक (४) साहित्येतिहास के अन्तर्गत स्वीकृत होगी। (५) व्यक्तिमूलक साहित्ये-तिहास की कोटि या श्रेणी हो सकती है ? मैं समझता हूँ कि व्यक्तिमूलक साहित्येतिहास उस श्रेणी में स्थान रखेगा जिसमें किसी महान् व्यक्तित्व व उसके कृतित्व दोनों का प्रभाव सम्पूर्ण युग पर पड़ता हो या युग अपने अस्तित्व को उक्त प्रकार के व्यक्तित्व व कृतित्व में समाविष्ट कर लेता हो। व्यक्तित्व व युग-विशेष की प्रवृत्ति, विचार-धारा मान्यताएँ आन्दोलन जब एक दूसरे से अन्योन्याचित सम्बन्ध स्थापित कर लें तो निश्चय ही वह व्यक्तित्व अपने कृतित्व के माध्यम से साहित्येतिहास दे सकने के कारण एक कोटि या श्रेणी बन जाता है। जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द का व्यक्तित्व उनके जीवन व जीवन के पश्चात् कुछ वर्षों तक हिन्दी भाषी जन-जीवन पर समकालीन कृतिकारों के माध्यम से छाया हुआ था, यदि भारतेन्दु पर ही उन्हें उनके युग में केन्द्रिय रूप में देखने की चेष्टा की जाय तो साहित्येतिहास को पूर्ति होगी ही। हिन्दी में कतिपय ऐसी कृयियाँ हैं जो साहित्येतिहास के व्यक्तिमूलक श्रेणी के अन्तर्गत मान्य होगी। जैसे—स्व० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत महाकवि हरिऔध, गंगाप्रसाद पाण्डेय कृत महाप्राण निराला आदि। उक्त कृतियां कृतिकार के माध्यम से साहित्येतिहास की प्रर्याप्त प्रवृत्तिमूलक एवं वृत्तमूलक सामग्री प्रदान करती हैं। (६) प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास उसी प्रकार एकांगी है जिस प्रकार वृत्त- संकलन प्रधान साहित्येतिहास। वृत्त-संकलन में रचनाकार की जीवनी, उसके जीवन से सम्बन्धित प्राप्त किंवदंतिया, अनुश्रुतियां (घटनामूलक), कृतियां व उसके सम्बन्ध, समय आदि पर उठाये गये तर्क-वितर्क, रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से कृतियों का अवलोकन मात्र रहता है। दूसरे शब्दों में "सूची-

पत्र" साहित्येतिहास नहीं है और उसकी प्रकार मात्र प्रवृत्ति-मूलकता का प्राधान्य मानकर किया गया कार्य भी साहित्येतिहास नहीं। प्रवृत्ति-विश्लेषण साहित्येतिहास का विशिष्टतम गुण है। प्रवृत्तियों के निरुपण करने में ही विभिन्न युगों के धार्मिक आन्दोलन, जन-जीवन, रहन-सहन, उपासना-पद्धति संस्कृति, सभ्यता के रूप, आचार-विचार, दार्शनिक प्रवाह-गति, राजनीतिक गति-विधियां और उससे प्रभावित जीवन व समाज आदि के दिग्दर्शन को लेखक अपना मूल धर्म मान बैठता है। यह प्रधान हो जाने के कारण कृति, कृतिकार व उसके माध्यम से प्रस्तुत साहित्य गौण हो जाता है। उसके साथ ही घटनाएँ भी प्रवृत्तियों का निर्माण करती हैं, उनकी उपेक्षा हो जाती है। प्रवृत्तियों के साथ घटनाएं व कृतियों के सामंजस्य प्रस्तुत करने की चेष्टा होनी चाहिये। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृति "हिन्दी साहित्य की भूमिका" कुछ इसी प्रकार का प्रवृत्ति-मूलक साहित्येतिहास है। संस्कृति के इतिहास से अधिक भिन्न नहीं होता प्रवृत्तिमूलक साहित्येतिहास। (७) वृत्त संकलन प्रधान साहित्येतिहास आचार्य शुक्ल पूर्व साहित्येतिहास है।

साहित्य-बोध

साहित्येतिहास में साहित्य-बोध न हो तो निश्चय है कि साहित्येतिहास कार के लिए दोष माना जायगा। आलोचक के लिये जेम्स स्काट ने जैसा कहा है कि आलोचना में परिष्कृत रूप में आलोचक की सौन्दर्यबोध प्रधान कलात्मक अनुर्दृष्टि होनी चाहिये अन्यथा वह रचना की आत्मा का संस्पर्श न कर सकने के कारण आलोचक-धर्म का निर्वाहन कर सकेगा। जेम्स स्काट की उक्त मान्यता कि आलोचक की कलाकार या रचनाकार के गुण व धर्म की सम्पन्नता को साहित्येतिहास-लेखन में मूल्य निर्धारण की दृष्टि से नहीं, बल्कि प्रस्तुत साहित्य के सौन्दर्य व आन्तरिक भाव-चेतनामूलक यथार्थ को उद्घाटित करने की दृष्टि से कलात्मकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। साहित्येतिहास केवल क्रमानुसार रचना-नामावली मात्र प्रस्तुत करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता, यह कार्य मात्र सहायक ही हो सकता है। साहित्येतिहास का आब्जेक्ट ही है, प्रस्तुत करना-साहित्य-बोध द्वारा साहित्येतिहास अपने अर्थ को पाता है और अभीष्ट की पूर्ति करता है। एक प्रश्न उठ सकता है कि साहित्य बोध व प्रवृत्ति-बोध की क्या साहित्येतिहास में भिन्न सत्ताएं होंगी। मैं समझता हूँ कि प्रवृत्ति-बोध साहित्य-बोध के भीतर अवस्थित हैं किन्तु बाह्य जीवन-विधान में उसका व्यवहार भिन्न होता है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि

साहित्य-बोध की भूमिका है-प्रवृत्ति बोध । प्रवृत्ति-बोध की क्या कसौटी होगी ? इस प्रश्न पर विचारने पर यही स्पष्ट होता है कि साहित्य में अवस्थित मात्र रस व प्राकृतिक-छटा को ही अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता बल्कि उसके सौन्दर्य-बोध पक्ष, मानवीय-पक्ष, जीवन-दर्शन पक्ष, को रचना-दर्शन पक्ष, संवेदन व भावना पक्ष, विचार-बोध पक्ष आदि को युग-बोध युगेतिहास की प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा । उसे देखने में, साहित्येतिहासकार में अन्तः को स्पर्श करने के निमित्त स्वयं में कलात्मकता होनी चाहिए अन्यथा वह यदि अपने साहित्यिक ठूंठपन का परिचय देगा तो निश्चित ही साहित्येतिहास को 'आब्जेक्ट' अर्थहीन हो जायगा । साहित्येतिहासों में साहित्य-बोध की सदैव उपेक्षा होती रही है । उसे या तो रस, छंद, अलंकार की दृष्टि से देखा गया या तो प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से । यही कारण है कि रचना-दर्शन से अपरिचित होकर हिन्दी से अपरिचित होकर हिन्दी साहित्येतिहास यह सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो सका कि कृति-विशेष की युग-परिधि में केन्द्र-बिन्दु कहाँ है ? हिन्दी साहित्येतिहास के क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक मनीषी आकंड़ों का ही झमेला बना, अपनी प्रतिभा-प्रकाश को एक क्षण देकर बुझ गये । साहित्येतिहास में युग-प्रवृत्ति व रचना-दर्शन का सम्यक-बोध दिया जाना अभीष्ट मान लिया जाय तो निश्चय ही 'मूल्य' पक्ष भी ऊँचा होगा । आलोचनात्मक अध्ययन-शैली की वर्तमान स्थिति में साहित्येतिहास भी जकड़ा हुआ है । चाहे कबीर, तुलसी, जायसी या चाहे पंत, निराला, प्रसाद हों, उनकी रचना-दर्शन को प्रस्तुत करने की एक सामान्य प्रचलित शैली है । भाषा, शैली, भाव-प्रवणता, कथानक, पात्र, उद्देश्य, अलंकार, रस, छंद की दृष्टि से जैसे बाजारू आलोचनात्मक अध्ययनों में साहित्य को समझा व समझाया जा रहा है, वही साहित्येतिहासों में । यह केवल प्रचलित साहित्येतिहासों मात्र की दशा नहीं है बल्कि सामान्यतः सद्भव और विकास वाले विधात्मक साहित्येतिहासों व खण्ड-साहित्येतिहासों की भी दशा है जिनके सम्बंध में अनेक तथा-कथित स्वर के पत्रों से प्रशंसा या सरकारी पुरस्कार पा जाने के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है ।

शोध बोध

शोध-कार्य में अनुपलब्ध या अप्राप्त को उपलब्ध या प्राप्त करने की अभीप्सा की पूर्ति में शोधकर्त्ता जितना सजग होता है उतना ही उसे सजग होना चाहिए स्थापना के लिए भी । इस प्रकार शोध-कार्य के दो पक्ष हो जाते हैं । यदि

सामग्री (मैटीरियल) बिखरी है तो उसे ठोस रूप व क्रम देना ही उसका मात्र ध्येय नहीं, बल्कि उसकी क्रम व व्यवस्था से क्या निष्कर्ष युग-बोध के लिये होता है, भी देना चाहिए। स्थापना की दरिद्रता से पीड़ित आज का शोध-कार्य केवल एरेंजमेण्ट देकर अपना पूरा मान बैठता है। जहाँ स्थापना नहीं हैं, वहाँ शोधी सम्पूर्णता विकेन्द्रित होगी और उसे (शोधार्थी को) अपने सम्पूर्ण शोध-कार्य का बोध भी होगा। माने गये विद्वान कहते हैं कि शोध-कार्य में आवश्यक नहीं कि निष्कर्ष या स्थापना को महत्व दिया जाय, यह कार्य तो आलोचक के लिये है न कि शोध-कर्ता के लिये। वस्तुतः उक्त कथन पलायनवादी दृष्टिपरक है। शोध-बोध के लिये शोध-कर्त्ता क्या मात्र "स्टैटिस्टिकल डेटाज्" मात्र से अपनी योग्यता का प्रमाण पेश करेगा ? आज उद्भव व विकास वाले साहित्येतिहास केवल "कोटेशन" से थीसिस भरते हैं और "स्टेटिस्टिकल डेटाज्" से अपनी विद्वता का कागजी प्रमाण-पत्र पा जाते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध को आत्मसात् करना चाहिए। खेद है कि हिन्दी-शोध का जितना कार्य हुआ है, उतना साहित्येतिहास में आत्मसात् होने के विधान पर विद्वान ध्यान न दे सके। आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास के दस वर्षों बाद आरम्भ हुआ हिन्दी साहित्य शोध अपनी जगह है और आज भी "आउट आफ डेट" पुरानी अशोधित सामग्री का अध्ययन विद्यार्थी करते हैं और वे दम्भ करने वाले विद्वान अपने विद्यार्थियों द्वारा कराये शोध की चर्चा नहीं करते, जबकि शोधार्थी अपनी एक तिहाई थीसिस केवल निर्देशक (गाइड) के उद्धरणों से संवारते हैं।

साहित्येतिहास में शोध-बोध इसीलिये आवश्यक है कि उसके अभाव में वह जड़ न हो, चेतन हो। कहने वाले कह सकते हैं कि शोध-कार्य इसलिए सम्पादित किया जाता है कि वह समीक्षा व साहित्येतिहास के लिये सामग्री (मैटीरियल) दे सके, किन्तु मैं नहीं मानता।

उनका यह मतलब नहीं कि शोध-बोध के निमित्त मूलाधारों के सम्बन्ध में, मैं कह चुका हूँ कि उनमें रचना-क्रम वर्गीकरण, स्टेटिस्टिकल डेटाज् आदि को प्रमुखता दी जाती है, तो न दी जाय। मेरे कहने का आशय है कि रचना-पाठ (टेक्स्ट) के अध्ययन के लिये पाठालोचन (टेक्स्टुअल क्रिटिसिज्म) व भाषा के अध्ययन के लिए भाषा-विज्ञान (फाइलालाजी) व भाषा-शास्त्र (लिंग्विस्टिक्स) आदि का भी अध्ययन-पक्ष प्रमाण व साक्ष्य प्रस्तुत

करने के उद्देश्य की पूर्ति साहित्येतिहास में भी हो ताकि शोध को वह आत्मसात कर प्रामाणिक बना सके। यह कार्य वस्तुतः साहित्येतिहास के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में होना चाहिये।

मूल्य-बोध

मूल्य शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्रीय "वेल्यू" का पर्यायवाची है। मूल्य निर्धारण के लिये साहित्येतिहासकार जागरुक हो, यह अनिवार्य नहीं, किन्तु गुण अवश्य है। वैसे मैं अनिवार्य गुण मानूँगा क्योंकि रचनाओं के माध्यम से युग-बोध कर सकना मूल्य-निर्धारण द्वारा ही सम्भव होगा साथ ही "मूल्य" बोध ही वस्तुतः साहित्येतिहास के कार्य का मौलिक अंश माना जायगा। मूल्य जैसा कहा गया है—"प्रतिमान का समानार्थी शब्द है।" मूल्य व प्रतिमान का परिप्रेक्ष्य केवल समीक्षा स्वरूप को साहित्येतिहास में स्पष्ट करता है। यदि "मूल्य" नहीं तो साहित्येतिहास का नाम समाप्त माना जाना चाहिये। मूल्य वस्तुतः कृति व कृतिकार की स्थिति का बोध देगा। साहित्येतिहासकार जिस साहित्य की सामग्री को उक्त विधा के आधारभूत सिद्धान्तों पर रखता है तो उसे कम से कम यह बताना होगा कि क्या वह साहित्य-बोध कर पाया है? क्या उसमें साहित्य-बोध की योग्यता है? यदि नहीं तो वह साहित्य के मूल्य-निर्धारण की भी योग्यता नहीं रख सकता। साहित्येतिहासकार में स्थिति मूल्य-बोध क्षमता ही उसके साहित्य-बोध की क्षमता की कसौटी मानी जायेगी। साहित्येतिहास अपने निष्कर्ष में साहित्य-बोध प्रदान करने में ही मूल्य-बोध भी दे यह आग्रह मुझे स्वीकार है। "मूल्य" के पूर्वग्रह की अवस्था में सम्भव है कि वह एक पक्षीय हो जाय। ऐसी अवस्था में उसके एकांकी होने के आरोप को स्वीकार करना होगा। निर्धारण के लिये यदि सामाजिक व वैयक्तिक स्तरीय मानवतावादी दृष्टिकोण-परक निषर्कष होंगे तो निश्चय ही साहित्येतिहास सही पथ पर अग्रसर होगा। मूल्य-युग-संदर्भ प्रधान होता है किन्तु साहित्येतिहास मूल्य को समय व काल के फ्रेम में प्रस्तुत होकर अपने विधात्मक गुण के स्वरूप को निखार दे सकने में समर्थ हो सकता है, मेरी ऐसी मान्यता है।

साहित्येतिहासकार को, जिस भाषा का इतिहास लिखना है, उस (प्रादेशिक) भाषा को विशेष की संस्कृति, सभ्यता, साहित्य-कला के अन्य उपकरणों को, जन-जीवन तथा भाषा के प्रदेश की राजनीतिक विकास सम्बन्धी समस्त उत्थान पतन की गतिविधियों से सुपरिचित होना चाहिये। साथ ही

भाषा जिन प्रभावों से युक्त हो, वह भी अपने अध्ययन के सन्दर्भ में रखकर इतिहासकार को इतिहास लेखन-कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को हिन्दी की जननी संस्कृत-भाषा एवं साहित्य तथा अन्य सम्बन्धित अभिविकसित प्राचीन भाषाओं का भी सन्दर्भ में ज्ञान होना चाहिये। विदेशी भाषाओं के साहित्यिक विचार-धाराओं का क्रमशः कि न रूपों में प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है, इसका भी अध्ययन अपेक्षित है। इन उपर्युक्त आवश्यकताओं की सम्पूर्ति से इतना लाभ होगा कि इतिहासकार सामग्री-संकलन तो देगा ही, साथ ही तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत करे तो निश्चय ही उसके लिये सम्भव होगा और मूल्यांकन, निर्णय, गुण-दोष-विवेचन का भी अभाव न होगा।

संकेत

१—लेखक का निबन्ध 'हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थ : काल निर्धारण पुर्नमूल्यांकन, भाषा, सितम्बर, १९६४।

२
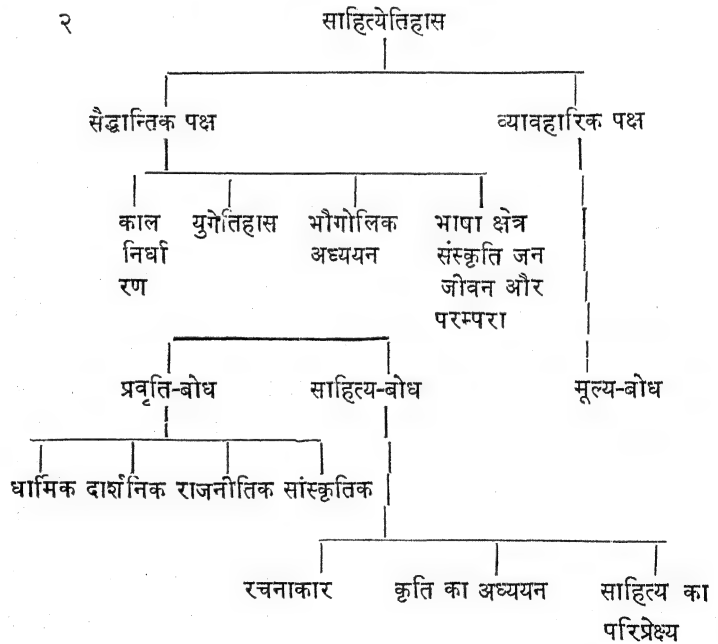
३—साहित्येतिहास भी अन्य प्रकार के इतिहासों की तरह कुछ विशिष्ट

लेखकों और उनकी कृतियों का इतिहास न होकर, युग-विशेष के लेखक-समूह की कृति-समष्टि का इतिहास ही हो सकता है। इस पर सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही ध्यान न देने के कारण साहित्यिक इतिहास ढीले सूत्र में गुंथी आलोचना का रूप ग्रहण करता रहा है।

नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास-दर्शन भूमिका

४—साहित्य का इतिहास सामाजिक अथवा साहित्य में व्यक्त तथा उदाहृत विचारों का इतिहास अथवा काल-क्रम से उल्लिखित विशिष्ट कृतियों के सम्बन्ध में भावनाओं तथा निर्णयों का इतिहास-मात्र होता है।

नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० ३४

५—इतिहास का (हिस्ट्री)....लोकिल और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है गवेषणा या गवेषणा से प्राप्त जानकारी या गवेषणा की किसी प्रक्रिया से उपलब्ध ज्ञान।....यह अन्वेषण की प्रणाली है,....उदाहरणार्थ-राजनीतिक इतिहास में राज्य की अतीत घटनाओं का विवेचन रहता है।....विज्ञान के रूप में इतिहास की प्रक्रियाएँ क्या हैं। इसका प्रथम कार्य हैं—प्रामाणिक तथ्यों का संकलन।

नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० ७-८

६—कालक्रमानुसार साहित्येतिहास-लेखन नितांत स्थूल व वृत्त मूलक होगा इसलिये उक्त लेखन में प्रवृत्ति-बोध का सामंजस्य भी होना चाहिये....लेखक

७—देखिए—लेखक का निबन्ध—हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ एवं काल निर्धारण भाषा, सितम्बर, ६४।

८—(अ)

८—(ब)
सहित्येतिहास
१ संपूर्ण साहित्ये-तिहास
२ खण्ड साहित्ये-तिहास
३ युग साहि-त्येति-हास
४ विधात्मक साहित्येति-हास
५ व्यक्ति-मूलक साहित्येति-हास
६ प्रवृत्ति मूलक साहित्येति-हास
७ वृत्त संकलन-मूलक साहित्येति-हास
पद्य-साहित्येतिहास
गद्य-साहित्येतिहास
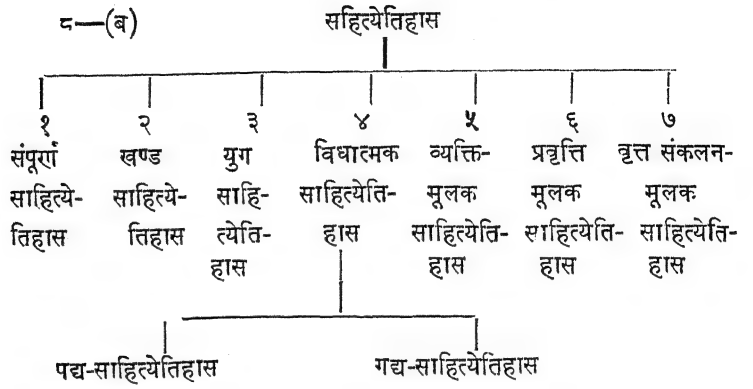
काल-निर्धारण—पुनर्मूल्यांकन

निर्धारण-(प्रथम खण्ड)

हिन्दी में जब से शोध-कार्य होने लगा है, तभी से आचार्य शुक्ल कृते 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' के काल-निर्धारण से सम्बन्धित कुछ नयी मान्यताएँ जन्म लेने लगीं। आचार्य शुक्ल ने सर्वप्रथम एक प्रामाणिक इतिहास सन् १९२९ में लिखा। इसमें उन्होंने उपलब्ध सामग्री को यथोचित रूप से संकलित कर तथा काल-विभाजन और वर्गीकरण प्रस्तुत कर, साहित्यिक-अध्ययन क्रम में मान्यताएँ समालोचना के रूप प्रस्तुत कीं। आचार्य शुक्ल के पूर्व भी इतिहास-लेखन का कार्य अनेक विद्वानों द्वारा सम्पन्न हुआ। इसका उपयोग आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-लेखन को वैज्ञानिक रूप से पुष्ट बनाने के लिये किया। आचार्य शुक्ल से पूर्व साहित्य के इतिहास सम्बन्धी निम्नलिखित वृत्त संकलन प्रकाशित हो चुके थे।

१—डॉ० गार्साद तास कृत "इस्तवार दल्ला लितरेतियर हिन्दुस्तानी" (इसमें उर्दू के साथ हिन्दी के विशिष्ट कवियों का परिचय मात्र है) प्रकाशन सन् १८३९

२—पण्डित महेशदत्त शुक्ल कृत "भाषा-काव्य संग्रह" प्रकाशन १८७३

३—शिवसिंह सेंगर कृत "शिवसिंह सरोज" प्रकाशन सन् १८८३

४—डॉ० ग्रियर्सन कृत "मार्डन वर्नाकुलर लिटरेचर आफ नार्दन हिन्दुस्तान" (अंग्ल) प्रकाशन-सन् १८८९

५—डॉ० एडविन ग्रीव्स कृत "ए एकेव आफ हिन्दी लिटरेचर" (अंग्ल) सन् १९१२

६—मिश्र बन्धु कृत "मिश्र बन्धु विनोद" (चार जिल्द) प्रथम जिल्द सन् १९१३ अन्य तीन जिल्द सन् १३ के बाद से संस्करण सन् १९२५ तक।

डॉ० गार्साद तासी, पं० महेशदत्त शुक्ल, शिवसिंह सेंगर, डॉ० ग्रियसेन, डॉ० ग्रीब्स, मिश्र बन्धु, डॉ० के० आदि ने हिन्दी-साहित्य की उपलब्ध सामग्री

का संकलन एवं सम्पादन किया जो समालोचना की व्याख्यात्मक पद्धति की प्रधानता से सम्पन्न है। उपर्युक्त साहित्येतिहासकारों के पास मौमिक प्रतिभा एवं निर्णय बुद्धि अपेक्षाकृत कम होने के कारण मूल्यांकन पक्ष उतना सबल नहीं बन सका जितना साहित्येतिहासकार के लिये अनिवार्य होना चाहिए।

आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास की विशेषताओं पर आगे विचार किया गया है। शुक्ल-पूर्व साहित्येतिहासकारों ने जो साहित्येतिहास लिखे उनमें कवियों का साहित्यिक परिचय तथा कवियों की उपलब्ध कविताओं का काल-क्रमानुसार संकलन मात्र प्रस्तुत किया था। इनमें कहीं-कहीं हिन्दी इतिहासकार द्वारा प्रवृत्तियों का संकेत भी मिलता है। गार्सा द तासी, ग्रियर्सन, के आदि ने हिन्दी कवियों के साथ उर्दू कवियों का भी उल्लेख किया है। काल-विभाजन कवियों के जन्म समय या रचनाकाल के अनुसार ही रखने की चेष्टा हुई है। इतिहास के काल-विभाजन की समस्या तभी से उठी, जब आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-भाषा के साहित्य का वर्गीकरण चार भागों में किया, जो इस प्रकार है :—

प्रथम—वीर गाथा काल—जिसका समय संवत् १०५० से १३७५ तक है।

द्वितीय—भक्ति काल—जिसका समय संवत् १३७५ से १७०० तक है।

तृतीय—रीति काल—जिसका समय संवत् १७०० से १९०० तक है।

चतुर्थ—आधुनिक काल—जिसे आचार्य शुक्ल ने गद्य-काल भी कहा है। इसका समय संवत् १९०० से अभी तक चल रहा है।

उपर्युक्त काल-विभाजन आचार्य शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" में प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल ने अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से सामग्री ली और संपूर्ण बिखरे हुये साहित्य को एक निश्चित काल-विभाजन में विभाजित किया। मिश्र बन्धु कृत "मिश्र बन्धु विनोद (चार जिल्दों में) में काल-विभाजन को एक स्वरूप देने की चेष्टा की गई। इस प्रयत्न पर आचार्य शुक्ल ने काल-निर्धारण संबन्धी कार्य को "आंख मूँद कर बाट देना" कहा है। "मिश्र-बन्धु-विनोद" का काल-विभाजन भले ही वैज्ञानिक न हो लेकिन आचार्य शुक्ल के लिये पृष्ठभूमि के रूप में उपलब्ध थी।

डॉ० के० ने हिन्दी साहित्य के आरम्भिक समय को चारण-काल नाम दिया था आचार्य शुक्ल ने चारण-काल को कवि के व्यक्तित्व के आधार स्वीकार किया और कवियों के साहित्य में अपनी प्रबन्ध-प्रियता सम्बन्धी रुचि

के आधार पर वीर गाथा काल नाम दिया। इसे ज्यों का त्यों डॉ० श्याम सुन्दर दास ने "वीरगाथा का साहित्य" स्वीकार कर लिया। आचार्य शुक्ल प्रबन्ध-काव्य को जीवन-दर्शन की व्याख्या एवं उसमें निहित लोक-संग्रह तत्व के कारण विशेष महत्व देते थे, इसीलिये उन्होंने वीरगाथा साहित्य को भाषा के विकास की दृष्टि से ऊँचा मानकर अन्य स्फुट साहित्य को वीरगाथा साहित्य के निर्माण की पीठिका माना है। सिद्ध, नाथ, जैन साहित्य में जीवन के विस्तार बोध के अभाववश आचार्य शुक्ल ने इसे साहित्य के इतिहास में मूल्यांकन के दृष्टि से महत्व नहीं दिया। जब इस दिशा में महा पंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी खोज से हिन्दी के अध्येताओं को "हिन्दी काव्य-धारा" नामक पुस्तक के माध्यम से परिचित कराया तो डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ७ वीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक सिद्ध, नाथ, जैन तथा वीरगाथा साहित्य को एक समग्र रूप देकर "आदिकाल" का नामकरण किया। डॉ० रसाल ने इस आरम्भिक अवस्था को 'बाल्यकाल' कहा है और इसका समय संवत् १००० से १४०० तक स्वीकार किया है। राहुल जी का नामकरण "सिद्ध सामन्त काल" अधिक समीचीन इसलिए है कि उसमें सिद्ध के अन्तर्गत जैन एवं नाथ साहित्य स्थान पा जाता है। डॉ० सूर्यकांत शास्त्री तथा डॉ० राम कुमार वर्मा दोनों ने चारण-काल नामकरण स्वीकार किया है। जिसे डॉ० के० ने सर्वप्रथम नामकरण दिया था। आचार्य शुक्ल की सतर्क बुद्धि ने वीरगाथा काल के साथ-साथ चारणकाल के कथन प्रयोग में अपना असहमति प्रगट नहीं की थी क्योंकि दोनों के बीच विशेष अन्तर नहीं था। साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उस काल के साहित्य को "वीरगाथा" कहा गया और साहित्य के निर्माताओं के व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में "चारण" कहा गया क्योंकि वे राजाश्रयी थे। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल का समय संवत् १३७५ तक माना है। निकट से देखा जाय तो जिन चारणों के वीरगाथा साहित्य के आधार पर काल-निर्धारण किया गया वह साहित्य निश्चिय अंशों में स्थान पाने के लिये विवादास्पद तथा संदिग्ध अवस्था में हैं। "बीसलदेव रासो" को श्री अगर चन्द नाहटा ने प्रेम-काव्य माना है, क्योंकि उसने जितना शृंगार-रस का प्राधान्य है, उतना वीररस का नहीं। इसी प्रकार चन्दवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर भी उँगली उठाई जाती ही है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करने पर उक्त कृति में सोलहवीं शताब्दी की भाषा का प्रभाव मिलता है। जिस रासो-साहित्य को आचार्य शुक्ल ने "वीरगाथा या डॉ० श्याम सुन्दर दास ने वीरगाथा का युग कहा है, उसकी सभी कृतियों में "रासो" शब्द प्रयुक्त हुआ है डॉ० बूलर ने इसकी व्युत्पत्ति राजसूय बताई है। आचार्य

शुक्ल ने "रसायण," श्री नरोत्तम स्वामी एवं पंडित चन्द्रवली पांडेय ने 'रसिक' को रासो का व्युत्पत्ति माना है। कई विद्वानों ने 'रस' व्युत्पत्ति स्वीकार किया है। रासो या रास (लीला) ब्रज के मंदिरों में अभी भी होता है। इसका अभीष्ट है कि आन्तरिक प्रेम का आंगिक क्रियाओं द्वारा प्रदर्शित करना। इस प्रकार रास शब्द प्रयोग वीररस के संदर्भ में नहीं, श्रृंगार-रस के संदर्भ में है। जबकि रासो में श्रृंगार-रस गौण रूप में है और इसमें वीर-रस ही प्रधान है। इसी प्रकार 'समान रास' या 'विजयपाल रासो' की जो भी उपलब्ध सामग्री है, विद्वान उसकी प्रमाणितकता के सम्बन्ध में अनिश्चित है। शेष बचता है, जगनिक कृत परमाल रासो या आल्हा खण्ड। इसे वीररस प्रधान काव्य कह सकते हैं। कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि वीरगाथा साहित्य अपनी स्वयं की स्थित में पुष्ट नहीं, यह वीरगाथा नामकरण वस्तुतः आचार्य शुक्ल की प्रबन्ध-प्रियता की देन है। आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा या चारण-साहित्य को संवत् १०५० से १३७५ तक रखा है। जबकि इसी नामकरण को स्वीकार करने वाले डॉ० राम कुमार वर्मा ने संवत् १००० से १३७५ और संवत् १००० से पूर्व समय को संधिकाल और डॉ० सूर्यकान्तशास्त्री ने संवत् १२०७ से संवत् १४५७ तक माना है। डॉ० वर्मा एवं डॉ० शास्त्री के आरम्भ-समय में २०७ वर्षों का अन्तर आता है, जब कि अन्त समय का अन्तर आचार्य शुक्ल एवं डॉ० वर्मा के समय में ८२ वर्ष अधिक आता है। डॉ० वर्मा ने राहुल जी के शोधों का विशेष उपयोग किया है।चूंकि आदिकालीन साहित्य में अपभ्रंश भाषा का प्राधान्य रहा है इसलिये इसे अपभ्रंश काल भी कहा गया।

आदिकाल—एक विवेचन

आचार्य शुक्ल ने भी हिन्दी-साहित्य के प्रथम काल को आदिकाल कहा, किन्तु अपनी काव्यगत मान्यताओं के कारण जिस प्रवृत्ति को विशिष्ट महत्व दिया, वह चारणों का काव्य साहित्य है। मूलतः प्रबन्ध-गुण सम्पन्न व वस्तून्मुखी काव्य होने के कारण आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा प्रवृत्ति को संदर्भ में रखकर, वीरगाथा काल स्वीकार किया। वीरगाथा-काल प्रवृत्तिमूलक नामकरण है और चारण-काल व्यक्तित्वमूलक।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी साहित्य' और आदिकाल के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा का अभिमत है कि "जो लोग शुक्ल जी को विवेकपूर्ण न मानते हों, वे कृपया द्विवेदी जी के इतिहास का ढांचा और विषय-वस्तु देखें और इस बात पर विचार करें कि द्विवेदी जी जैसे विद्वान ने भी शुक्ल

जी की ही व्यवस्था स्वीकार की है या नहीं। आदिकाल से लेकर छायावाद तक द्विवेदी जी ने उन्हीं धाराओं के हिसाब से इतिहास लिखा है, जिनका विवेचन शुक्ल जी ने किया है।" डॉ० शर्मा की यह उक्ति उसी प्रकार है, जैसा शुक्ल जी पर डॉ० ग्रियर्सन के प्रभाव की बात कहीं जाती है। इतिहास से तथ्यों में और प्रस्तुत सर्जित वस्तु-विधान में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। 'सहित्येतिहास' में फैक्ट(तथ्य) ज्यों के त्यों रहेंगे ही, केवल स्थापना एवं मान्यताओं द्वारा ही एक को दूसरे से पृथक बनाया जा सकता है। डॉ० द्विवेदी व शुक्ल जी के साहित्यिक व्यक्तित्व में व मान्यताओं में जो मौलिक भेद हैं, वे भेद ही शुक्ल जी व द्विवेदी जी को अलग-अलग समझने में सहायक हो सकते हैं, न कि तथ्यों का संकलन। हाँ, यह बात अवश्य कही सकती है कि तथ्यों को यथावत् प्रस्तुत करते हुए भी यदि शुक्ल जी को आरोपित किया जाय तो समीचीन नहीं है। डॉ० द्विवेदी हिन्दी-आलोचना में कबीरदास की पृष्ठभूमि को लेकर स्थापित हुए। यह द्रष्टव्य है कि कबीरदास के महान् धर्म-निरपेक्ष संत व्यक्तित्व को किसी न किसी परम्परा से वे जोड़ना चाहते थे। इसीलिये डॉ० द्विवेदी के अध्ययन में जो विशिष्ट पक्ष रहा है, वही आचार्य शुक्ल के लिये गौण रहा। आचार्य शुक्ल काव्य को प्राथमिकता देकर चले और उसमें निहित लोक-चिन्तना का आदर्श लेकर साहित्य का इतिहास लिखा। वहीं डॉ० द्विवेदी ने सिद्ध, नाथ की परम्परा में कबीर को व्यवस्थित करके समाज-चेता व्यक्तित्व घोषित किया जो उपेक्षित जनजीवन का व समाज का प्रतीक रहा है। डॉ० द्विवेदी ने संत कवियों के व्यक्तित्व का सामाजिक एवं संस्कृतिक दृष्टि से क्या स्थान हो सकता है, देखा और वहीं ऐसे स्थान पर काव्य का पक्ष उनके लिये गौण रहा।

एक बात डॉ० द्विवेदी के सम्बंध में नहीं कही गयी कि वे वास्तव में कवि का प्रभाव उसके सांस्कृतिक चेतना मूलक व्यक्तित्व से मानते हैं और मानते हैं कि जो •अन्ततः कवि के काव्य में प्रतिपालित हुआ होगा। डॉ० द्विवेदी कबीरदास के जीवन दर्शन के भीतर क्रान्ति का दर्शन करते हैं जो समाज में रूढ़ियों का विरोध करके परिवर्तन चाहता है। ऐसा व्यक्तित्व यदि ज्ञान, कर्म, साधना के मूल्यों को स्वीकार करता है तो वह निर्भय होकर समाज में परिवर्तन ला सकता है। डॉ० द्विवेदी ने संत-काव्य की पृष्ठभूमि में अपनी उस भारतीय दर्शन की सम्पत्ति धरोहर की उपेक्षा करना उचित नहीं समझा जिसने कबीरदास जैसे कवियों को जन्म दिया और जिसने काव्य के माध्यम से समाज को प्रकाशित किया। यहीं शुक्लजो कबीरदास को काव्य के चश्में से

देखते हैं। आचार्य शुक्ल जी व आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व के भेद की भिन्न दिशाओं का बोध दोनों को भिन्न मान्ययाओं के संदर्भ में करना चाहिये।

आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि "साहित्य का इतिहास" पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर-प्रवाहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्ति-शाली प्राण-धारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं।"

हिन्दी-साहित्य में डॉ० द्विवेदी ने ८४ सिद्ध कवियों की सूची दी है व परिचय किया है। इस सन्दर्भ में आदिनाथ की परम्परा का स्वरूप स्पष्ट किया है—
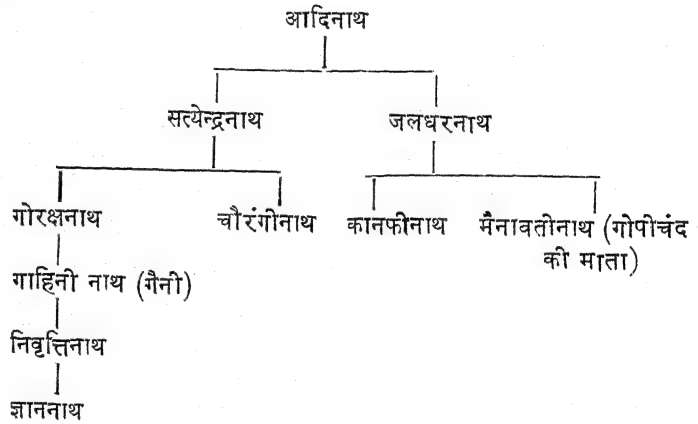
डॉ० द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य की विषय-सूची के प्रथम अध्यय में "दसवीं शताब्दी तक की लोक-भाषा-साहित्य के मुख्य-लक्षण दिये हैं। इसी अध्याय में सिद्ध-काव्य, नाथ-काव्य, जैन-काव्य की पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया है। किन्तु डॉ० द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य का आदि काल जिसका समय १०००-१४०० ई० तक माना है। यह समय लगभग वही है जिसे आचार्य शुक्ल ने संवत् १०५० से १३७५ तक माना और चारणों के काव्य को पूर्व-ही जितना उन्होंने महत्व दिया उतना ही डॉ० द्विवेदी ने। यहाँ दृष्टव्य है कि डॉ० द्विवेदी आदिकाल का प्रवृत्ति-बोधक नामकरण करना उचित नहीं समझते। इसी अध्याय की यह विशेषता है कि 'दो श्रेणियों की रचनाओं के रूप में विभाजन करके यह देखा गया है कि प्रामाणिक और अप्रमाणिक कृतियाँ कौन-कौन-

सी हैं। यह द्विवेदी जी की अध्ययनपरकता का परिचायक है। प्रथम दो अध्याय अवश्य ही शुक्ल जी के 'पैटर्न' से अधिक दूर नहीं हैं। किन्तु यह स्थित डॉ० द्विवेदी के हिन्दी-साहित्य का आदिकाल में नहीं है। उसमें समस्त काव्य धाराएँ सम्यक्‌रूप से विवेचित हैं तथा चारणों के काव्य का भी उतना ही महत्व है जितना सिद्ध-काव्य का अथवा नाथ-काव्य का। डॉ० द्विवेदी के 'आदिकालीन अध्ययन की प्रवृत्ति का सम्पूर्ण दर्शन' हिन्दी-साहित्य 'में न होकर' हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में किया जा सकता है।

'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' जो 'हिन्दी-साहित्य' का द्वितीय अध्याय है, डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार 'चारणों' के काव्य की प्रामाणिकता व अप्रमाणिकता सम्बन्धी प्रायः वही बातें कुछ शब्द परिवर्तन के साथ डॉ० द्विवेदी ने कहीं हैं, जिन बातों को आचार्य शुक्ल कह चुके हैं। "डॉ० द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के सम्बन्ध में कहा है कि" साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को "हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहा जाता है। शुक्ल जी के अनुसार सं० १०५० (सन् ९८३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिये। शुक्ल जी ने इस काल के अपभ्रंश और देश-भाषा की बारह पुस्तकें साहित्यिक इतिहास में विवेचन-योग्य समझी थीं। इनके नाम हैं–१–विजयपाल रासो, २—हम्मीर रासो, ३—कीर्तिकला और, ४—कीर्ति-पताका तथा ५—खुमाम रासो ६—बीसलदेव रासो, ७—पृथ्वीराज रासो, ८—जयचन्द प्रकाश, ९—जयमयंक जस चंद्रिका, १०—परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), ११—खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति पदावली।

डॉ० द्विवेदी ने अपभ्रंश की कुछ कृतियों के सम्बन्ध में यह उचित ही कहा है कि जिन्हें शुक्ल जी ने 'नोटिस-मात्र' कहा है, उनका विवेचन होना चाहिये। ऐसी कृतियों में जैसे—'प्राकृत मंगलम्' की चर्चा आचार्य द्विवेदी ने की है। शुक्ल जी ने 'विवेचन-योग्य न समझकर' उपेक्षा कर दी है, यह आज शोध व इतिहास की दृष्टि आवश्यक भी है। आचार्य द्विवेदी ने कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। वे कहते हैं–शिवसिंहसरोज में चन्द कवि के प्रसंग में कहा गया है कि" इन्हीं की (चन्द की) औलाद में शार्गधर कवि थे जिन्होंने हम्मीर रासो और अम्मीर काव्य-भाषा में बताया है। (शिवसिंह स० पृ० ३५०) द्विवेदी जी इस काव्य के मूल्यांकन की पद्धति की दृष्टि से आचार्य शुक्ल से आगे हैं।

भक्तिकाल सम्बन्धी अन्यत्र किये गये विवेचन में वर्गीकरण का आधार जन्म और रचनाकाल दोनों दृष्टियों से समझा जा सकता है। यह भी स्पष्ट हो सकता है कि कबीर के निर्गुणवाद का खण्डन सूरदास ने अपने काव्य में मुक्तक शैली में ही किया और जायसी के प्रबन्ध के माध्यम से प्रस्तुत सूफीवाद के प्रभाव को रोकने के लिये तुलसीदास ने भी सगुणवाद की प्रतिष्ठा हेतु प्रबन्ध-काव्य लिखने की विवशता अनुभव की। बल्लभाचार्य (सं १५३५-८७) द्वारा प्रवर्तित "शुद्धातवैदवाद एवं पुष्टिमार्ग के संदर्भ में सूफी प्रभाव को समाप्त करने की योजना सम्बन्धी चर्चा एक अन्य विषय है, यहाँ मात्र काव्य शैली के संदर्भ में धार्मिक आन्दोलनों को देखने का प्रयास मात्र है।

जायसी के संबंध में शंका प्रकट की जा सकती है कि क्या उनके प्रबन्ध-काव्य निर्गुणवादी ही माने जाएँगे ? प्रबन्ध काव्य का शिल्प विधान वास्तव में सगुण प्रधान होता है और उसमें प्रख्यात पात्रों या कथानक के माध्यम से जीवन में घटित संघर्षों को एक मूर्त्त-स्वरूप प्रदान किया जाता है। पद्मावती रत्नसेन या अलाउद्दीन जैसे प्रख्यात मात्र के माध्यम से निर्गुणवाद की प्रतिष्ठा संभव नहीं है। निर्गुणवाद की प्रतिष्ठा के लिये सगुण प्रतीक अथवा सगुण विधान उचित प्रतीत नहीं होता। इसके लिये गीतिकाव्य या प्रगति काव्य ही उचित है।

विद्वान सूफी काव्यों के सम्बन्ध में सभासोक्ति विधान या प्रतीक विधान का आश्रय लेते हैं। प्रतीक विधान का उसी प्रकार सूरदास के लिये आश्रय लिया जा सकता है। विद्वान मेरे इस कथन पर आश्चर्य प्रकट करेंगे। बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवादी एवं पुष्टिमार्गीय अष्टछाप के कवि माया से रहित ब्रह्म ही शुद्ध अद्वैत है, के समर्थक थे। इसके व्यवहार-रूप देने के लिये जीव की विभिन्न स्थितियों (अवस्थाओं) का निरूपण "पुष्टि मार्ग" के अंतर्गत किया गया है। पुष्टि का अभिप्राय ब्रह्म के अनुग्रह से है। इसी संदर्भ में श्री कृष्ण के प्रति वियोग, जीव का ब्रह्म के प्रति वियोग है। इसमें रहस्य-भावना की प्रधानता भी परिलक्षित है। इस प्रकार जायसी को मूलतः प्रबन्ध-काव्य की सगुण प्रधान शैली के अनुकरण करने के कारण मैं पूर्णतः निर्गुण धारा के अंतर्गत स्वीकार करने में पीछे हट जाता हूँ। समस्या पुनः उठती है कि फिर मैं उन्हें कहाँ स्थान देना चाहूँगा ? इसके लिये मेरा निवेदन है कि जायसी को सगुण एवं निर्गुणधारा दोनों से मुक्त कर प्रेमाख्यानक कवि के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करना चाहिये। वैसे आचार्य शुक्ल

के भक्तिकाल' नाम करण में विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं हैं ? डॉ० रामकुमार वर्मा ने उसे उसी रूप में स्वीकार किया है। मिश्र-बन्धु के पूर्ण और प्रौढ़ माध्यमिक में 'भक्तिकाल' आ जाता है। भक्तिकाल के आरंभ के संबंध में भी एक समस्या उपस्थित होती है। जिस पर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। आचार्य शुक्ल एवं डॉ० वर्मा ने एवं सभी ने भक्तिकाल के प्रथम कवि कबीरदास का जन्म सं० १४५६ का उसके थोड़ा आगे पीछे माना है। रचनाकाल के लिये जन्म वर्ष में यदि २० वर्ष और जोड़ लें तो यह सं० १४७६ होगा। समस्या है कि सं० १३७५ और कबीरदास के रचनाकाल सं० १४७६ के बीच १०१ वर्ष का अंतर क्यों ? किसलिये ? काल निर्धारण सम्बन्धी इस दोष की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। इस प्रश्न पर अन्यत्र विचार किया गया है।

अनेक विद्वानों ने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रवर्तित 'रीतिकाल' के अनेक नामकरण किये हैं, यथा-मनोरंजन काल, अलंकार काल, श्रृंगार काल, कला-काल आदि। निस्संदेह मनोरंजन तत्वों से पूर्ण, अलंकार युक्त भाषा, श्रृंगार रस से अप्लाबित संपूर्ण काव्य-सृजन में जिस विद्वान ने जो विशिष्टता देखी, उसी के अनुसार नामकरण किया। रीतिकाल को देखा जाय तो शैली पक्ष एवं भाषा अलंकार का पक्ष तथा 'लक्षण' वैशिष्ट्य का पक्ष स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार रीतिकाल के नामकरण में विद्वानों के अन्य वे पक्ष तत्व समाविष्ट हैं जिन्हें किसी एक खास के रूप में स्वोकार किया है। रीतिकाल का समय आचार्य शुक्ल के अनुसार संवत् १७०० है। केशवदास का जन्म संवत् १६१२ और मृत्यु संवत् १६७४ है। स्पष्ट है कि उनका जीवन भक्ति-काल में ही व्यतीत हुआ। रामचरित मानस के लोकभाषा काव्य होने की प्रतिक्रिया में केशवदास ने तुलसीदास के जीवन-काल में 'रामचन्द्रिका' का लेखन कार्य सम्पन्न किया। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० स्वीकार की जाती है। संवत् १६७४ में केशवदास की मृत्यु तुलसीदास के देखने सुनने में हुई होगी। ७२ वर्ष की आयु में अर्थात् संवत् १६३१ में तुलसीदास ने अपनी प्रबंध-कृति रामचरित मानस की रचना की। उस समय केशवदास की आयु १९ वर्ष की थी। संवत् १६३१ के पश्चात् भक्तिकाल के किसी प्रतिनिधि कवि का अवतरण नहीं हुआ। इस प्रकार यदि भक्तिकाल का समय ५० वर्ष घटा दिया जाय और रीतिकाल का ५० वर्ष बढ़ा दिया जाय तो भी भक्तिकाल को कोई हानि नहीं है। इस दृष्टि से यह लाभ होगा कि संवत् १६५० के पश्चात् केशवदास का शेष २४ वर्ष का रचना-समय रीतिकाल की परिधि

में आ जाएगा। आचार्य शुक्ल ने चिंतामणि त्रिपाठी से रीतिकाल का आरंभ स्वीकार किया है। चिंतामणि का जन्म संवत् १६६० है और उनका 'कविता-काल' सं० १७०० स्वीकार किया गया है। केशवदास भक्तिकाल के फुटकर कवियों में न रहकर इस प्रकार रीतिकाल में ही स्थान पायें, यह कोशिश होनी चहिए।

रीतिकाल

रीति शब्द प्रयोग काव्य शास्त्रीय रीति-मत कर आधारित होकर, नहीं किया गया गया है। रीति का तात्पर्य है—पद्धति, लक्षण, शैली आदि। इसका नामकरण अचार्य पण्डित विश्वनाथ मिश्र द्वारा श्रृंगार-काल के रूप में किया गया है जो विद्वानों द्वारा मान्य हो गया है।

रीतिकाल का वर्गीकरण इस प्रकार है :—
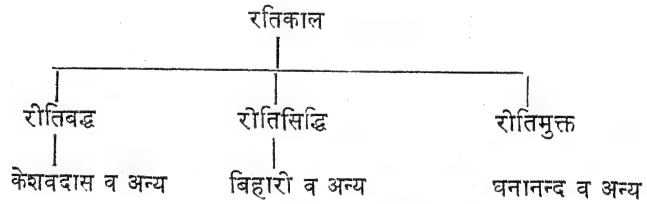
रीतिकाल में काव्य शास्त्रीय लक्षण, सौन्दर्य शास्त्रीय लक्षण, अलंकारिक लक्षण की प्रधानता है। नायिका भेद, नख-शिख वर्णन षट्-ऋृतु वर्णन आदि राधा-कृष्ण के लौकिक वाह्य व्यक्तित्व के संदर्भ में मिलता है।

रीति कालीन साहित्य

रीतिकाल की मुख्य तीन काव्य-धाराएँ हैं—

(१) रीतिबद्ध, (२) रीति-सिद्धि, (३) रीतिमुक्त। यद्यपि भूषण वीर-रस के अन्यतम राष्ट्रीय कवि हैं किन्तु उन्होंने अलंकारिक लक्षणों को स्वीकार करते हुये रीति के पूर्ण प्रभाव को ग्रहण किया है।

रीतिबद्ध कवि के रूप में आचार्य केशवदास हैं। इन्हें कठिन काव्य का प्रेत कहा गया है। इसका कारण है कि उन्होंने अपने आचार्यत्व-प्रतिपादन को ही कवि-धर्म माना है। रामचन्द्रिका, कवि-प्रिया व रसिक-प्रिया केशवदास की कृतियाँ हैं। उन्होंने शास्त्रीय लक्षणों में आवद्ध शब्द-विधान द्वारा अलंकारिक पहलुओं को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। इनमें काव्यानुभूति नहीं है। रामचन्द्रिका में राम, सीता या लक्षमण कोई सांस्कृतिक व दार्शनिक अर्थ नहीं

रखते। रामचन्द्रिका में प्रबन्धा मास है क्योंकि इसमें क्रमबद्ध कथा का विकास नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण रामचन्द्रिका महाकाव्य भी नहीं हो सकता।

रीतिसिद्धि काव्य के अन्यतम कवि बिहारी हैं। इनकी सतसई में (१) भक्तिमूलक, (२) रीति-भक्ति, (३) अन्य विषय से सम्बन्धित दोहे हैं। भक्तिमूलक दोहे कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा प्रधान है। रीति-प्रभावित पठनीय मुक्तक प्रधान दोहों में राधा-कृष्ण के आंगिक व्यापारों द्वारा नख-शिख-वर्णन, नायिका भेद के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। षट्-ऋतु-वर्णन में भी शास्त्रीय लक्षणों की विधि अपनायी गयी है। अन्य विषय प्रधान दोहों में नीति, आदर्श व ज्ञान की प्रधानता है।

रीतिमुक्त के अन्तर्गत घनानन्द का स्थान निर्धारित किया जाता है। घनानन्द अपने रीति-प्रभाव-युग से सवैया मुक्त हैं। सुजान इनकी प्रेयसि है। घनानन्द ने सुजान के प्रति अपने उन्मुक्त भाव-प्रेम (स्वच्छन्द) को व्यंजित किया है। यद्यपि परम्परा के रूप में राधा-कृष्ण को भी स्वीकार किया है। राधा-कृष्ण का प्रतीक माना है, सुजान को।

आधुनिककाल :

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही अंग्रेजों की प्रभु-सत्ता भारतवर्ष में स्थापित होने के पूर्ण लक्षण परिलक्षित होने लगे थे। फोर्ट विलियम कालेज अंग्रेज अफसरों का प्रशिक्षण केन्द्र था। राजनीतिक दृष्टि से सम्पूर्ण देश विघटित हो चुका था। मराठे पराजित होकर छोटे-छोटे राज्यों के स्वामी बन गये थे। इसी प्रकार वे अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अभाव में, अपने ही अस्तित्व के रक्षार्थ आत्म-केन्द्रित दृष्टिकोण रखकर जी रहे थे। अंग्रेज शासक एक-एक करके अपने अनुरूप विधि व नियम बनाकर राजाओं व नवाबों की सत्ता का अपहरण करते गये। जन-मानस में विक्षोभ की ज्वाला तो थी किन्तु उसे व्यक्त करने के लिये उनमें संगठित प्रयास करने के साधन नहीं थे। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी पिपासा व लिप्सा बढ़ती गयी और राजाओं व नवाबों का अस्तित्व समाप्त होता गया। जो राजा अंग्रेजों के अधीन होकर जीने लगता, उके गुलामी का पुरस्कार मिलता और जो अधीनता अस्वीकार करता उसके लिए संघर्ष व मृत्यु के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं था।

मुगल साम्राज्य के अंतिम अवशेष बहादुरशाह जफर के भी अध्याय का अंत सन् १८५७ के विद्रोह दबा देने के पश्चात् होता है। सन् १८५८ की एक नवम्बर की घोषणा द्वारा भारतवर्ष ब्रिटि साम्राज्य का उपनिवेश हो गया और

महारानी विक्टोरिया के साम्राज्य का एक अंग। सन् १८५७ का स्वातन्त्र समर सम्पूर्ण उत्तर भारत का एक ऐसा विद्रोह था जो दासता के विरुद्ध असन्तोष व्यक्त करता है, किन्तु यह स्वतन्त्रता के लिये राष्ट्रीय स्तर का विद्रोह व आन्दोलन नहीं था। रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, कुँवर सिंह आदि शहीद होकर भविष्य के लिये स्वातंत्र्य प्रेम की भावना के प्रेरणा स्त्रोत बने अंग्रेजों ने इस देश को निश्चिय ही एक सूत्र में बाँधा और विधि-विधानों द्वारा राष्ट्र को एक इकाई स्वरूप प्रदान किया।

अंग्रेजों की राजनैतिक उपलब्धि से अधिक यह देश उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में किये गये कार्यों से पीड़ित हुआ। यही कारण है कि ईसाई मिशनरियों की धार्मिक गतिविधियों द्वारा धर्म परिवर्तन को जाते रहने के कारण सर्वप्रथम प्रतिक्रिया बंगाल में हुई। राजा राम मोहन राय ने ब्रह्म समाज (सन् १८२८) की स्थापना की। सन् १८६८ में ब्रह्म समाज का ही एक संस्करण 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना केशवचन्द ने की। उत्तर भारत की और ईसाई पादरियों की गतिविधियां प्रारंभ होने पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में आर्य-समाज की स्थापना की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बौद्धिक जागृति के उद्देश्य से इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना सन् १८७६ में की। श्रीमती एनी बेसेण्ट के भारत आगमन पर १८८३ में थियासॉफिकल सोसाइटी की स्थापना हुई। मि० ह्यम द्वारा इण्डियन-नेशनल कांग्रेस की स्थापना सन् १८८५ में हुई। सन् १८९३ में स्वामी विवेकानन्द विश्व-धर्म सम्मेलन में शामिल होने अमेरिका गये। उन्नीसवीं शताब्दी अपने समूचे में राष्ट्रीय एवं सामाजिक आन्दोलन की शताब्दी रही है। सन् १८५७ के असफल स्वातंत्र्य समर के पश्चात् निरीह भारतीय जनता के सन्मुख सम्पूर्ण सांस्कृतिक जागृति का ही एक मात्र शेष विकल्प रहा! खड़ी बोली का विकास राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक आरंभिक दर्शक ईसाई पादरियों की उन गद्य-सेवाओं का भी समय रहा जिसमें उनके द्वारा सम्पूर्ण बाईबिल व अन्य धार्मिक साहित्य का खड़ी-बोली में अनुवाद होता रहा। सन् १८०० में सन् १८६३ तक खड़ी बोली की गद्य-भाषा अपने निर्माण की स्थितियों में थी। इन तिरसठ वर्षों में गद्य-भाषा का जितना निर्माण हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में भारतेन्दु-युग के साहित्यिक युग का अवतरण हुआ। उल्लेखनीय है कि भाषा पहले निर्मित होती है तभी साहित्यिक संततियों के रूप में कृतियों का जन्म होता है। भारतेन्दु के साहित्यिक मूल्यों पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकाश

डालते हुए लिखा है—'वे साहित्य के नये युग-प्रवर्तक हुए। यद्यपि देश में नये-नये विचारों और भावनाओं का संचार हो गया था।'

अंग्रेजी भाषा का प्रभाव

अंग्रेजों के स्थापित हो जाने के पश्चात् लार्ड मेकाले (सन् १८३३) की शिक्षा-नीति के अन्तर्गत उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होने के लिये अंग्रेजी शिक्षा का महत्व बढ़ाया गया? शासन की मशीनरी में कार्य करने के लिये पदाधिकारी अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजी प्रभाव को स्वीकारे, इस नीति ने सम्पूर्ण देश की शिक्षा-नीति को प्रभावित किया। शिक्षा का नौकरी से सम्बद्ध हो जाने के कारण अंग्रेजी का और अंगरेजियत का प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया। सांस्कृतिक दृष्टि से अंग्रेजी साम्राज्यवाद नौकरशाही के माध्यम से भारतीय जन-मानस को विशेषतः शिक्षित वर्ग को इतना परिवर्तित करता गया कि आगे चलकर भारतीय नौकरशाह ही अंग्रेजों की शक्ति बने और वे ही राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति में बाधक हुए। मेरी दृष्टि में भारतीय भाषाओं व बोलियों की सांस्कृतिक परम्परा को क्षत-विक्षत करने के उद्देश्य से ही खड़ी-बोली को अंगरेजों द्वारा प्रश्रय दिया गया। अंगरेजी के अनुवाद के रूप में खड़ी-बोली को एक विकल्प-स्वरूप प्रदान करके अंगरेजों ने उर्दू व हिन्दी-दो भाषाओं की परिकल्पना कर सम्प्रदायिक विद्वेष उत्पन्न करने की कूटनीति को साकार किया।

युग-विभाजन संबंधी विचार व नवीन दृष्टिकोण

स्वतंत्रता के पश्चात् हिन्दी को संवैधानिक सम्मान मिला। निश्चय ही इससे साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी एवं अहिन्दी भाषियों को यह प्रेरणा प्राप्त हुई कि हिन्दी को प्रत्येक दृष्टि से समृद्ध बनाया जाय। वैचारिक दृष्टि से १९४७ के बाद नयी चिंतन धाराएँ हिन्दी-साहित्य के तटों को स्पर्श करने लगीं। गद्य एवं पद्य दोनों में सशक्त रचनाएँ लिखी गई। इतनी संख्या में लिखी गई कि सभी विधाएँ अपनी उपलब्धियों में कहीं पीछे नहीं है। भाषा के क्षेत्र में भी अनेक आन्दोलन एवं परिवर्तन हुए और हो रहे हैं। इस दृष्टि से आधुनिक काल को हम किस सीमा तक घसीटेगें, यह प्रश्न है। भारतेन्दुयुगीन तथा द्विवेदी जी की समकालीन युग-प्रवृत्तियाँ एवं छायावादी प्रवृत्तियाँ अब आज आधुनिकता का बोध नहीं करा पा रही हैं। मेरा विचार है कि सन् १९४७ और इसके बाद ही हम वस्तुतः बौद्धिक स्तर पर आधुनिकता का बोध कर पाए हैं, इसलिए इसके पूर्व के साहित्य का एक नया नामकरण करके तथा

इसके बाद से आधुनिक काल का नये सिरे से अध्ययन करना प्रारम्भ करना चाहिये। मैं आधुनिक हिन्दी-साहित्य को स्वातंत्र्य-पूर्व आधुनिक काल एवं 'स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक काल' नाम से विभाजित करना उचित समझता हूँ।
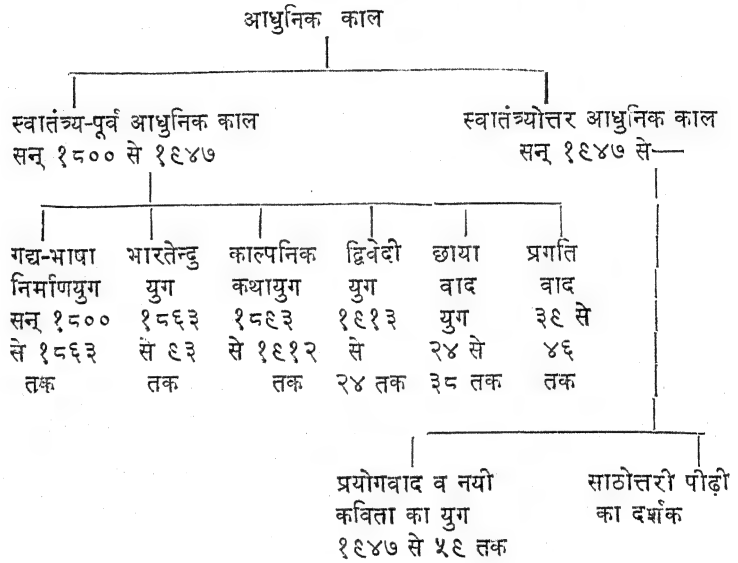
खड़ी बोली साहित्य निश्चय ही उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी का एक सशक्त माध्यम बना और स्वातंत्र्य आन्दोलन के संदर्भ में इसका योगदान रहा। खड़ी बोली का इतिहास अपने विकास क्रम में भारतीय चेतना एवं स्वतंत्रता का इतिहास है। गद्य खड़ी-बोली की वह भूमि है जिस पर राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों एवं अनेक युग संदर्भों में जीवन मिलता रहा है। इसलिए मेरे विचार से सन् १८०० से १९४७ तक के समय को 'खड़ी बोली भाषा एवं साहित्य का काल' कहना चाहिये। १९४७ के बाद के साहित्य आधुनिक काल के अन्तर्गत रखकर चलना ठीक होगा।

हिन्दी के अनेक साहित्येतिहासकारों ने आधुनिक काल का गम्भीरतापूर्वक विभाजन किया है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'ब्रिटिश काल' कहा है। यह नामकरण उन्होंने पश्चिमीय साहित्येतिहास-लेखन की पद्धति पर किया है। राजनीतिक इतिहास के शासकों के नाम पर पश्चिमीय साहित्येतिहासों में काल निर्धारण होता है। आधुनिक काल के विशेषज्ञ एवं विद्वान डॉ० लक्ष्मीसागर

वार्ष्णेय ने 'ब्रिटिश काल' के अन्तर्गत सन् १८५० से सन् १६०० तक भारतेन्दु युग माना है। यहाँ मेरा एक विनम्र सुझाव है कि सन् १८५० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म वर्ष है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्य काल इसलिए भी कहा कि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व काव्य-लेखन की हजार-वर्ष पुरानी परम्परा थी। गद्य का आविर्भाव अभिव्यक्ति-क्षेत्र के लिए एक क्रान्ति थी। डॉ कृष्णशंकर शुक्ल ने सन् १८६७ से आधुनिक काल स्वीकार किया है। 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग गद्य के परिप्रेक्ष्य में किया जाना बौद्धिक जागृति व वैज्ञानिक युग के प्रभाव का सूचक है। आचार्य शुक्ल के आधुनिक काल का प्रारम्भ सवंत् १६०० (सन् १८४३) से होता है। इस बीच अध्ययन की समस्या है कि क्या सन् १८४३ (सं० १६००) से आधुनिक काल की प्रवृत्तियों का जन्म हो जाता है। सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। प्रथम प्राचार्य डॉ० गिलक्रिस्ट थे ? सन् १८०० के पश्चात् ही गद्य-भाषा के स्वरूप को सुस्थिर करने का प्रयास हुआ। इसके पूर्व गद्य का जो भी स्वरूप था, वह या तो ब्रज-बोली या अन्य बोलियों से प्रभावित था। वैसे रामप्रसाद निरंजनी ने सन् १७४१ में भाषा-योग-वाशिष्ठ नामक ग्रंथ से गद्य-स्वरूप सम्बन्धी प्रस्तावित आधार दे दिया था। उनकी भाषा में खड़ी बोली का एक स्थिर संस्कार दिखता है।

इस प्रकार निरंजनी जी के स्तुत्य प्रयास खड़ी-बोली-गद्य के विकास संदर्भ में रखना ही होगा। ईसाई धर्म प्रचारकों को गद्य-भाषा को स्थिर रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे कि वे उस भाषा में अपने धर्म-साहित्य को प्रस्तुत करें और प्रचार-मूल्यों की वृद्धि में संलग्न हों।

जॉन गिलिक्रिस्ट के संरक्षण में लल्लूलाल (सन् १७६१-१८२४) ने प्रेम-सागर और श्री सदल मिश्र (सन् १८६८ के लगभग से १८४८ के लगभग) ने नासिकेतोव्यख्यान लिखा। इन्शाअल्ला खाँ एवं मुंशी सदासुखलाल (सन् १७४६ से १८२४) ने स्वतंत्र रूप से गद्य-स्वरूप निर्धारण में व्यावहारिक योगदान किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार इन चार लेखकों का लेखन समय सन् १८०३ से १० के आसपास है। इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी व्यावहारिक अध्ययन करना आवश्यक है ताकि भाषा-प्रयोग की दिशाओं का परिचय मिल सके। इंशा ने रानी केतकी की कहानी नामक कथा पुस्तक का लेखन-कार्य सम्पन्न किया। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इंशा ने विभिन्न तीन प्रकार के शब्दों से तटस्थ रहने की चेष्टा की है :(१) बाहर की बोली अरबी, फारसी, तुर्की (२) गँवारी—ब्रजभाषा, अवधी आदि तथा (३) भाषापन-संस्कृत के

शब्दों का मेल। आचार्य शुक्ल की सम्पति में यह तथ्य सही है कि वे एक सामान्य भाषा के विकास में विश्वास रखते थे। 'सामान्य' शब्द से सरल का प्रश्न नहीं है, बल्कि जन-जीवन में प्रचलित एवं अभिव्यक्ति की दुरूहता से मुक्त भाषा को प्राणान्वित करने में ही उनका विश्वास परिलक्षित होता है। इस प्रकार उनका प्रयोग 'ठेठ हिन्दी' कहा गया और खड़ी बोली के अपने गुण-तत्व को विकसित होने में यह प्रयोग विशेष सहायक सिद्ध हुआ। उनका मन्तव्य स्पष्ट है—'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसो कहिए जिसमें 'हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।' 'इस विचार संदर्भ से अनुप्रेरित होकर इंशा ने जीवन की जीवन अनुबोध कराने वाले मुहावरों के वैशिष्ट्य को भी उद्‌घाटित किया। परिणाम स्वरूप भावाभिव्यंजन में तीव्रता आई।

फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (सनू १८००) के बाद और उसके माध्यम से तथा स्वतंत्रा रूप से खड़ी बोली की गद्य-भाषा के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न हुआ। लल्लूलाल, इंशा अल्ला खाँ, सदा-सुखलाल सदल मिश्र द्वारा प्रवर्तित होकर तथा राजा लक्ष्मणसिंह एवं सितारेहिन्द तक पहुँचकर यह आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया, साथ ही खड़ी बोली का गद्य युग की माँग बन गया। इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि सन् १८०० से सन् १८६३ के समय को 'गद्य-भाषा निर्माण युग' कहना उचित होगा। आधुनिक काल के अन्तर्गत भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी-गुण वादों के विवाद से मुक्त थे। भारतेन्दु युग समस्त विधाओं के लिए प्रस्तावित युग है। गद्य के अन्तर्गत नाटक, उपन्यास, समालोचना, निबन्ध आदि सभी का आरम्भ भारतेन्दु के युग-समय से ही होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म वर्ष सन् १८५० है और मृत्यु वर्ष सन् १८८५ है। भारतेन्दु का रचनाकाल सन् १८६३ से मानना उचित होगा और तब से लेकर मृत्यु के आठ वर्षों आगे तक अर्थात् सन् १८९३ तक भारतेन्दु-युग मानना समाचीन होगा। सन् १८९३ से सन् १९१२ तक के बीच देवकीनन्दन खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्या प्रसाद व्यास आदि ने ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी, डाकेजनी सम्बन्धी उपन्यास लिखें। वास्तव में विषय-वस्तु की दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं है लेकिन गद्य-भाषा परिमार्जन की दृष्टि से गद्य को जीवन मिला और वह पुष्ट हुआ।

सन् १८९३ से सन् १९१२ के बीच के तिलस्मी साहित्य को यदि भारतेन्दु-युग या द्विवेदी-युग में रखें तो दोनों से ही साहित्यिक पवित्रता नष्ट होगी।

इसलिये इस २० वर्ष के समय को काल्पनिक कथा-युग कहना उचित होगा। 'प्रियप्रवास' के प्रकाशन से वस्तुतः द्विवेदी-युग का आरम्भ मानना चाहिये। साहित्येतिहासकार सन् १९०० से द्विवेदी-युग को अस्तित्व में लाते हैं। सन् १९०३ में द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक हुये थे और खड़ी बोली के आन्दोलन को तथा अपने समसामयिक युग की औपन्यासिक प्रवृत्ति से संघर्ष करते हुये मार्ग प्रशस्त करते रहे। सन् १९१३ में 'प्रिय-प्रवास'-महाराणा प्रताप का महत्व, 'मिश्रबन्धु विनोद' का प्रकाशन होता है तभी द्विवेदी जी युग-बोधक व्यक्तिव बने। द्विवेदी युग के पश्चात् छायावाद, प्रगतिवाद स्वातंत्र्य-पूर्व काव्यधाराएँ हैं। छायावाद से गद्य का पक्ष उपेक्षित है और गद्य की दिशा छायावाद की दिशा से भिन्न है। गद्य की विधाओं में छायावादी काव्य से अपेक्षाकृत कहीं अधिक लिखा गया। छायावादी काव्य-युग गद्य में प्रस्तुत बौद्धिक-चिन्तन से सर्वथा अलग अलग है। इसी प्रकार प्रगतिवादी जब युग-बोधक स्थिति में पदार्पित हुआ तो काव्य में ही सर्वप्रथम आच्छादित रहा। प्रगतिवाद 'युग' की दृष्टि से प्रधान नहीं हो पाया किन्तु परम्परा के रूप में सम्पूर्ण साहित्य को आज भी प्रभावित करता है। छायावाद का आरम्भ सन् १९२५ से मानना चाहिये। पंत जी कृत 'पल्लव' ही छायावाद को रोमाण्टिसिज्म के संदर्भ में युगबोध करा सका। इस प्रकार छायावाद का आरम्भ सन् १९२५ से होता है और समाप्ति सन् १९३८ में क्योंकि सन् १९३९ में पंत जी के 'ग्राम्या' तथा 'युग-वाणी' का प्रकाशन हो जाता है, परिणामस्वरूप प्रगतिवाद का आरम्भ हो जाता है।

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् गांधी जी की विचारधारा का प्रभाव प्रगतिवादी कवियों पर पड़ा। किन्तु सन् १९४३ में प्रकाशित 'तार-सप्तक के प्रकाशन द्वारा स्वतंत्रता के पश्चात् प्रयोगवाद और यही व्यक्तिवादी संदर्भों में नयी कविता के रूप में प्रचारित हुआ। प्रगतिवादी कवि एवं लेखक गांधी जी की विचारधारा को स्वीकार करके आगे बढ़े और जो शेष समझौता नहीं कर सकें। नये प्रयोगवादी स्कूल में तार-सप्तक के साथ या बाद में सम्मिलित हो गये। अज्ञेय जी ने जब ऐसे घुसे प्रगतिवादी लोगों को अलग करने का संकल्प किया तब 'नयी कविता' के आन्दोलन को वैचारिक धरातल मिला। किन्तु प्रगतिशील विचार-धारा प्रयोगवाद की मुहताज कभी नहीं रही। स्पष्ट है कि प्रयोगवाद के बाद व्यक्तिवादी धरातल पर 'नयी कविता' तथा प्रगतिशील चिन्तन, दोनों चले और आज भी परम्परा के रूप में दोनों चल रहे हैं। किन्तु सन् १९६० के पश्चात् ज्या पाल सार्त्र के अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि पर

साठोत्तरी पीढ़ी के रचनाकारों का युग प्रधानता पा गया। वैसे प्रगतिवाद एवं 'नयी कविता' परम्परा के रूप में आज भी महत्वपूर्ण है।

सन् १९४७ के बाद हिन्दी भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में लगभग अभी वैचारिक विवाद हो रहे हैं। सभी विवाद राजनीतिक अभिव्यक्ति पाने के कारण और भी त्रिवादग्रस्त बन गये हैं। विवाद की खोज का आग्रह लेकर जब आते हैं तब वे प्रायः सत्यानुमोदन के उत्साह में वरेण्य होते हैं, किन्तु जब वे आग्रह विशेष से ग्रसित होते हैं तब वे प्रायः तथ्य से बहुत दूर जाकर असत् का वरण करते हैं। साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में भी हमें इसी बात का ध्यान रखना है। आधुनिक काल के युग-विभाजन के प्रश्न को विवादों के क्षेत्र से हटाकर उसे तथ्याश्रित रूप में ही देखना समीचीन होगा। एक लम्बी अवधि साहित्य की वैचारिक एवं रूपात्मक विविधताओं से यदि पूर्ण हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? इसीलिये उसके विभाजन में प्रवृत्तियों का ध्यान रखना अनिवार्य हो जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर मैंने आधुनिक काल के विभाजन की रूप-रेखा प्रस्तुत की है।

———

इतिहास-लेखन की प्रक्रिया एवं मूल्य-बोध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिंदी-साहित्य का इतिहास का प्रकाशन साहित्येतिहास के क्षेत्र में अभूतपूर्व घटना है। इसका प्रकाशन (आषाढ़ ५, १९८६ वि०) सन् १९२९ में हुआ। आचार्य शुक्ल ने प्रथम संस्करण में यह स्वीकार किया था कि सन् १९२४-२५ में छात्रों को दी गयी सामग्री के निमित्त इसका लेखन कार्य सम्पादित किया था और यही निबन्धाकार रूप में नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका में सन् १९२८ में हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल एवं हिंदी साहित्य पूर्व-मध्यकाल के रूप में, क्रमशः दो अंकों में प्रकाशित हुआ था।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में इस इतिहास ग्रन्थ में वह युगान्तकारी नवीनता नहीं है जो उनकी प्रारम्भिक कृतियों में पायी जाती है। ·· यहाँ हमें स्वीकार करना होगा कि विशुद्ध इतिहास-लेखक की तथ्य संग्रहकारिणी प्रतिभा और प्रवृत्ति शुक्लजी में नहीं है। ······साहित्य के विद्यार्थियों और पाठकों में इस ग्रन्थ का प्रसार अवश्य हुआ, परन्तु इसका जितना उपयोग हिन्दी की छात्र-परीक्षाओं के लिये किया गया है उतना साहित्यिक मनन, अनुशीलन और विचार-विनमय के लिये नहीं।" (आधुनिक साहित्य, पृष्ठ सं० २६५) इस कथन का उत्तर मात्र यही हो सकता है कि वाजपेयी जी ने भी एक "संक्षिप्त इतिहास" साधारण स्तर के छात्रों के लिए लिखा जो उनकी शैली व पाण्डित्य से सर्वथा भिन्न है।

आचार्य शुक्ल ने उक्त इतिहास-ग्रन्थ में एक वैज्ञानिक काल-विभाजन प्रस्तुत किया जो क्रमशः आने वाले युगों के लिये अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुआ और भविष्य में भी होगा। आचार्य शुक्ल का काल-विभाजन वस्तुतः उनके काव्यगत प्रतिमानों पर ही आधारित है। उन्होंने उस युग व काल को अधिक महत्वपूर्ण माना है जो वस्तुतः उनके प्रतिमानों के अनुरूप हैं। आचार्य शुक्ल ने "आदिकाल" को वीरगाथा काल (समय सं० १०५०-१३७५)

इसलिये कहा कि वीरगाथा साहित्य मूलतः प्रबन्ध-काव्य शैली में लिखे गये। सिद्ध, नाथ व जैन कवियों के स्फुट काव्य में लोक प्रवृत्ति के विकास की सम्भावनाएँ नहीं थीं। दूसरी बात यह थी कि लोक प्रवृत्ति के लिये प्रबन्ध-काव्य में सगुणवाद के संरक्षण की विशेषता अधिक थी। सिद्ध एवं नाथ कवियों के काव्य निर्गुणवादी प्रवृत्ति के निकट था, तंत्र-मंत्र की प्रधानता होने के कारण काव्य के स्तर का, आचार्य शुक्ल के अनुसार था ही नहीं। ये कवि व्यक्तिसाधनावादी थे जबकि आचार्य शुक्ल काव्य में लोक-साधना के मूल्य को अन्तर्भूत करना कवि के लिये आवश्यक मानते थे। "शुक्ल जी ने पहले विभिन्न कालों की प्रवृत्ति के नाम पर उस काल का नामकरण किया। इस तरह हम्मीर के शासन काल तक के युग को आदिकाल माना।"

आचार्य शुक्ल हिन्दी आलोचना के मेरुदण्ड थे। विशेषण तो बहुत से ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु यह कहना ही पर्याप्त है कि उनके माध्यम से आलोचना प्रशंसा व निन्दा मात्र न होकर सैद्धांतिक प्रतिमानों के प्रस्तुत करने का विषय बनी। शुक्ल जी ने उन्नीसवीं शती के सामाजिक व धार्मिक आन्दोलनों के आरम्भ से और उनके अपने समय तक की राष्ट्रीय जागृति को काव्य या साहित्य का प्रतिमान रूप दिया। ऐसे ही सृजन-रचना को सरस्वती में प्रकाशित करके द्विवेदी जी सम्मानित होते रहे जबकि सर्जक के रूप में कथा-साहित्य में युगीन-समसामयिकता को प्रतिपादित करके प्रेमचन्द या सैद्धांतिक व्याख्याता के रूप में आचार्य शुक्ल उतने सम्मानित नहीं हुए। कारण था कि उनके पास 'सरस्वती' नहीं थी। 'सरस्वती' ने अपने युग के अनुरूप सर्जित मूल्यों को द्विवेदी जी के सौजन्य से पहचाना था, इसलिए उन्हें ऐतिहासिक महत्व मिल गया। हो सकता है कि कुछ लोगों को मुझसे असहमति हो।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना के विषय में यह कहना अधिक सटीक है कि वे अपनी आलोचना प्रस्तुत करने के पूर्व उसे मनोवैज्ञानिक आधार देना आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने चिन्तामणि के मनोविकार-विषयक निबन्ध लिख कर आगे रस-सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए आलम्बनत्व के साधारणीकरण की बात कही।

---

१. शम्भूनाथसिंह, वृहत इतिहास, पृ० ४३८।

आचार्य शुक्ल प्रबन्ध-प्रिय व्यक्ति थे। काव्य में वस्तु-शिल्प के पक्ष का प्रतिपादन इसलिये करते हैं कि काव्य-पुरुष की सृष्टि में बाह्य-जगत् के विभिन्न क्रियाओं को प्रत्यक्ष अनुभूत किया जा सकता है। जल तक किसी भी अमूर्त-भाव के लिये मूर्त-विधान न होगा तो भावुक मन के सम्मुख कोई बिम्ब न होगा। अमूर्त का बिम्ब सम्भव नहीं, अतएव उसके प्रत्यक्षीकरण के लिये आवश्यक है कि काव्य में विभिन्न रूपों व क्रियाओं को प्रस्तुत किया जाय। काव्य के लिये भाव का प्रस्तुतकर्ता होना चाहिये अर्थात् काव्य-पुरुष अर्थात् चरित्र।

आचार्य शुक्ल रसवादी आलोचक थे। उनके अनुसार काव्य में भाव के आलम्बनत्व का आश्रय के साथ तादात्म्य होकर साधारणीकरण होना चाहिये। भाव के आलम्बन व आश्रय के तादात्म्य में रस की निष्पत्ति की सम्भावना में उनकी स्थापना थी कि वह काव्य जिसमें चरित्र की ऊँची परिकल्पना मूर्त रूप में सहृदय तक सम्प्रेषित न हो सके, श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। यही आलम्बन काव्य में प्रबन्ध को स्वरूप देता है, और यही चरित्र के रूप में महत क्रियाओं द्वारा औदात्य का स्थापना करता है। यही नहीं, ऐसा ही चरित्र पुराण की कथा से जुड़कर अवतारी पुरुष बनकर अपने सद्गुणों के कारण ईश्वर बन जाता है। यही ईश्वर, आचार्य शुक्ल की मान्यता के अन्तर्गत 'सगुण' का स्वरूप है। यही आलम्बन या आश्रय के रूप में 'शेष जगत के जड़ व चेतन से तादाम्य पाकर व्यष्टि की सीमा से मुक्त होकर' समष्टि को स्पष्ट करता है।

आदिकाल में चारणों द्वारा लिखित "वीरगाथा काव्य" शुक्ल जी द्वारा इसलिये सम्मत व स्वीकृत हुआ कि वे मूलतः प्रबन्ध-काव्य थे और उनमें कथा का चमत्कार था, प्रकृति-चित्रण-विधान था, चरित्र थे और चरित्रों के विभिन्न प्रकार के व्यापार थे। यद्यपि प्रबन्ध-काव्य सामान्य थे। आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रबन्ध रुचि की आंशिक पूर्ति पाकर 'आदिकाल' को चारणों के काव्यों के आधार पर, अपनी स्वयं की दृष्टि में 'वीरगाथा' समझकर नामकरण किया। चारणों की तुलना में सिद्ध व नाथ कवि श्रेष्ठ नहीं थे स्फुट होने के अतिरिक्त केवल तंत्र-मंत्रों के शब्द-स्रष्टा थे।

आचार्य शुक्ल ने पूर्व मध्यकाल को 'भक्तिकाल' कहा है। अनेक विद्वान यह मानते हैं कि डॉ० ग्रियर्सन से प्रभावित शुक्ल जी का काल-विभाजन है। किंतु यह द्रष्टव्य है कि डॉ० ग्रियर्सन के साहित्येतिहास-लेखन की पद्धति

बहुत कुछ पश्चिमीय पद्धतिपर आधारित है । पश्चिमीय साहित्येतिहासों में राजाओं के राज्यकालों के आधार पर ही साहित्यिक युगों व कालों का विभाजन होताहै । यही कारण है कि तुलसीदास के युग को ग्रियर्सनने The AKbar Age कहा है । शुक्ल जी ने भक्तिकाल नामकरण करके पूर्व-मध्य युग की उस मूल भाव-चेतना को व्यक्तकिया है जो निराकार ईश्वर और साकार ईश्वर के प्रति कवियों द्वारा समर्पण के साथ मुखरित हुआ है । इसमें निर्गुण या सगुण ईश्वर के प्रति समर्पण व तन्मय गायन की प्रधानता को उन्होंने महत्व दिया । भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य में, भक्त-संत कवियो के कारण, पथनिर्देशक तो है ही, वस्तुतः प्रकाश-पुंज है । आचार्य शुक्ल ने भक्ति काल कहकर यह सिद्ध किया कि उक्त काल-विशेष के समस्त कवि निराकारोपासना अथवा साकारोपासना द्वारा किसी ईश्वर-विशेष के प्रति आस्थावान थे । परिणाम-स्वरूप भक्तथे । भक्ति भावना है, समर्पण के विशेष स्थिति है । डॉ० ग्रियर्सन ने 'धर्मजा गरणकाल' कहा किन्तु नामकरण धर्म की संकीर्णताओं का अधिक संकेत देता है । सभी भक्त कवियों ने अपने काव्य-प्रणयन में किसी धर्म की व्याख्या नहीं की है और न कोई न कोई जातीय आधार स्वीकार किया है । केवल धर्म की परम्परा में स्वीकृत अवतारी चरित्र मिथक के रूप में अपना प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं । साकारोपासक कवियों ने अवतारवाद की स्थापना सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से की और उनका अभीष्ट था कि अवतारों की क्रियाओं द्वारा ऊँचाई की तलाश की जा सके । कबीर व उनकी पंथ के कवि धर्म-निरपेक्ष थे । सूफी कवियों ने ऐतिहासिक परिवेश में, प्रतीकों द्वारा अनिर्वचनीय सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति के पक्ष को रखा था । आचार्य शुक्ल का यह नामकरण उपासना के क्षेत्र में सामान्य की खोज करता है, न कि विशेष की ओर उन्मुख होकर धर्म-प्राण बन गया हो ।

भक्तिकाल का वर्गीकरण वैज्ञानिक है. इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के सूक्ष्म-चिन्तन को भी समझना होगा । भक्तिकाल वैचारिक एवं दार्शनिक दृष्टि से खण्डन-मण्डन का काल है । निर्गुण एवं सगुण ईश्वर की उपासना की दो भिन्न स्थितियों के दर्शन को पृष्ठभूमि को आचार्य शुक्ल ने समझा था । यही कारण है कि भक्तिकाल के वर्गीकरण में विभाजन का आधार निर्गुण व सगुण-दर्शन है । इसी प्रकार निर्गुण की एक धारा में ज्ञानवाद है और उसके खण्डन का पक्ष सूफियों की भावना व प्रेम-व्यंजना द्वारा होता है । अतएव निर्गुण धारा की दो विशिष्ट शाखाएँ बन जाती हैं । आचार्य शुक्ल के वर्गीकरण का आधार खण्डन-मण्डन का सूत्र है । सगुण-धारा के अन्तर्गत

पल्लवित एवं विकसित अवतारवाद के सन्दर्भ में राम-काव्य द्वारा लोक-मंगल की भावना एवं कृष्ण-काव्य द्वारा मधुरोपासना की दो भिन्न स्थितियाँ हैं, शुक्ल जी ने इन्हीं भेद के आधार पर रामाश्रयी व कृष्णाश्रयी शाखाओं का निर्माण सगुण-धारा के अन्तर्गत किया है। वर्गीकरण में 'धारा' 'शब्द-प्रयोग के अन्तर्गत 'शाखा' शब्द प्रयोग का औचित्य नहीं प्रतीत होता, कारण है कि धारा के अन्तर्गत उसकी मूल चेतना के प्रवाह में उप-धारा शब्द प्रयोग ही संगत है।

काल-निर्धारण[1] की समस्या के सम्बन्ध में, मैं स्पष्ट कर चुका हूँ कि शुक्ल जी के वर्गीकरण में प्रवृत्ति व समय के मध्य एकता नहीं है। काव्य-शैलियों के परिप्रेक्ष्य में प्रवृत्ति दर्शन के मूल्यों को देखना अधिक उचित होगा। उक्त विभाजन[2] से काव्य-शैलियों के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि भक्तिकाल का पूर्व-भाग मुक्तक शैली में ही लिखा गया। मुक्तक काव्य में ही लिखा जाकर निर्गुण के अन्तर्गत ज्ञानवाद प्रतिष्ठित हुआ और उसके पश्चात् मुक्तक काव्य-शैली में, तदुपरान्त कृष्ण-काव्य लिखा गया। आगे प्रबन्ध-काव्य-लेखन में निर्गुणवाद के अन्तर्गत प्रेमाश्रयी भावना को प्रश्रय मिला और इसका भी खण्डन राम-काव्य-लेखन द्वारा उसी प्रबन्ध शैली में हुआ।

आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल के उन काव्यों को अधिक महत्व दिया है जो प्रबन्ध-काव्य शैली में लिखे गये थे। शुक्ल जी ने कबीरदास को अपनी काव्य-गत मान्यताओं के अनुसार समर्थन नहीं दिया। डॉ० द्विवेदी ने कबीरदास को महत्व देकर शुक्ल जी पर आरोप लगाया कि वे 'हिन्दूवादी' थे। किन्तु कबीरदास की आलोचना को आचार्य शुक्ल की 'हिन्दूवादी' दृष्टि न मानकर उनकी यह विवशता कहना अधिक उचित होगा कि वे अपने प्रतिमानों के प्रति अत्यधिक प्रतिबद्ध थे। सिद्धों व नाथ के काव्य को वे तथाकथित काव्य मानकर उसी प्रकार चले जिस प्रकार कबीर को; यह उनकी सम्प्रदाय-वादिता नहीं थी। यदि उक्त हिन्दूवादी दृष्टिकोण होता तो सूफी काव्यों में निहित धार्मिक सम्प्रदायवादी स्वरूप की वे आलोचना अवश्य करते। यही नहीं, वे सूफी काव्यों में प्रबन्ध गुणतत्वों के समाविष्ट होने के प्रशंसक रहे। यहाँ शुक्ल जी के सम्बन्ध में यह भी देखना चाहिये कि आचार्य शुक्ल

1—देखिये-'भाषा', अप्रैल १९६६

2—देखिये-'भाषा' में प्रकाशित वर्गीकरण

के पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे 'निम्न' वर्ग-द्वारा 'उठाये गये' आन्दोलन के साथ न्याय नहीं कर सके। [1]इस कथन में एक दृष्टि से सत्यता है, किन्तु मैं यह सोचता हूँ कि शुक्ल जी की दृष्टि कवि के काव्य में काव्य-पुरुषों के व्यक्तित्व एवं परिवेश के संदर्भ में सामाजिक यथार्थ के बिम्ब को खोजती है। कबीर की धर्म-निरपेक्षता, कबीर का 'हरिजन' सन्दर्भ निश्चय ही उनकी सामाजिक चेतना का द्योतक है। उनके द्वारा अस्पृश्य समाज को योग, ज्ञान के संदेश द्वारा जीवन-जीने की अंत शक्ति मिलती है। किन्तु आचार्य शुक्ल को काव्यानन्द की गुंजाइश न मिलने से वे कबीर के पक्षधर न हो सके। आचार्य शुक्ल काव्य मूल्यों के आलोचक मात्र थे संस्कृति व सामाजिक अवस्थाओं से व्याख्याता नहीं। संस्कृति व समाज का अध्ययन उन्हें इतना ही स्वीकार था जितना साहित्येतिहास में आवश्यक मात्र होता है। साहित्येतिहासकार का आलोचक होना यदि दोष है तो निश्चय ही अका० बारान्निकोव के कथन की सार्थकता को स्वीकार किया जायेगा। आचार्य शुक्ल कबीर के विशिष्ट आलोचक के रूप में मान्य हुए। अतएव कबीर पर विस्तार के साथ विवेचन करना चाहिये और देखना चाहिये कि शुक्ल जी की मान्यताओं में कितनी शक्ति है। भक्तिकाल के अध्ययन में सर्वप्रथम ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्तर्गत कबीरदास (संवत् १४-५६ से १५७५) को स्वीकृति दी जाती है क्योंकि वे भक्तिकाल के मान्य प्रथम कवि हैं। निर्गुण ब्रह्म की स्थापना में उन्होंने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक काव्य-लेखन कार्य सम्पन्न किया। उनकी काव्य-शैली 'मुक्तक' है। ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रधान कवि कबीर ने विशुद्ध निराकार एवं निर्गुण ईश्वर के प्रति निष्ठा को अपने काव्य में प्रकट किया। परम्परागत धार्मिक

१—**शुक्ल जी के इतिहास की समीक्षा करते हुए डॉ० बारान्निकोव ने भूमिका में पहले (सन् १९३९) यह जोर देकर कहा था कि शुक्ल जी के इतिहास का सबसे कमजोर अंश है उनका पूर्व-मध्यकाल। उनके अनुसार शुक्ल जी कबीर, नानक, आदि संत कवियों के साथ उचित न्याय नहीं कर सके। वे बताने में अक्षम हैं कि क्यों निर्गुण भक्तों का आन्दोलन निम्न वर्ग के लोगों द्वारा उठाया गया और क्यों व्यापक रूप से वह उन्हीं तक सीमित रह गया? क्यों शिक्षित वर्ग के व्यक्तियों का सहयोग उन्हे नहीं मिला और बाद में चलकर इस आन्दोलन ने क्यों सम्प्रदाय (sect) का रूप ग्रहण किया—**

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव।

रूढ़ियों में इन्हें आस्था नहीं थी। जीवन को साधनापूर्ण बनाने पर जोर दिया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में उन्होंने (कबीर) भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावनात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के आहिंसावाद तथा प्रगतिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। इससे स्पष्ट है कि कबीर ने भारत के समकालीन विचारधाराओं को अपने स्वयं में समन्वित करने का प्रयत्न किया। अन्तर्मन की शुद्धि को ही निगुर्ण ब्रह्म की प्राप्ति का सबसे बड़ा माध्यम माना।" कबीरदास की प्रधान पुस्तक का नाम है—बीजक। इसमें साखी, सबद और रमैनी, इन तीन रूपों के माध्यम से रूढ़िगत परम्पराओं का सशक्त विरोध किया। कबीर की भाषा 'सधुक्कड़ी' है—रस, अलंकार तथा कवीत्व की कमी है, लेकिन भावों की गहराई उनकी कविताओं की विशेषता है। इनकी रचनाओं में हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक आडम्बर एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा निर्गुण 'राम' के प्रति गहरी भक्ति एवं आस्था है तथा विशुद्ध आत्मानुभूति, उपदेश, नीति एवं दार्शनिक विवेचन की प्रधानता है। बाह्य पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने बाह्याडम्बरों, ईश्वर के अवतारों तथा मूर्ति-पूजा का विरोध किया है। आन्तरिक पक्ष का उलटवांसी के माध्यम से संसार की नश्वरता का कथन प्रस्तुत किया। कबीर ने निराकार ब्रह्म की उपासना पर आग्रह किया। यही कारण है कि उनके काव्य में ज्ञान की आवश्यकता पर जोर दिखाई पड़ता है। इसलिये वे भक्तिकाल के अन्तर्गत निर्गुण-धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रधान कवि हैं। भक्तिकालीन निर्गुण-काव्य धारा में निर्गुण ईश्वर की प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म पर जोर देने वाले कवि कबीरदास थे। कबीरदास रामानन्द के शिष्य थे। रामानन्द ने सामान्य छुआछूत भेद की समस्त रूढ़िग्रस्त परम्परा का विरोध कर देश में समानता एवं व्यापकता का प्रसार किया। रामानन्द की प्रेरणा द्वारा कबीरदास को निर्गुणवाद के प्रतिष्ठापन करने का अप्रत्यक्ष बल मिला। कबीरदास ने जीवन, समाज और धर्म की विभिन्नताओं में अभिन्नता एवं एकात्मकता की स्थापना पर विशेष जोर दिया इसलिये उन्होंने अपनी काव्य-साधना के पाथेय में हिन्दू और मुसलमानों की धार्मिक रूढ़ियों, पाखण्डों, कृत्रिमताओं की कटु आलोचना की और आडम्बर, मूर्तिपूजा आदि का खण्डन किया। यही कारण है कि ईश्वर उपासना के सगुण-साधनों की निन्दा करके निर्गुणवाद की प्रतिष्ठा पर विशेष जोर दिया। कबीरदास ने रूढ़ियों व रूढ़िवादियों की आलोचना की। यह एक व्यवहारिक पक्ष है जिसके द्वारा निर्गुणवाद की प्रतिष्ठा करने के लिए

सामाजिक पक्ष की आलोचना को सन्दर्भ में रखकर ज्ञान एवं कर्म की अपेक्षा पर बल दिया। ऊँच-नीच के भेद की समाप्ति पर जोर इसलिये दिया ताकि निर्गुण ईश्वर (ब्रह्म) की सम्प्राप्ति में वर्ग-भावना बाधक न बन सके। कबीरदास ने निराकार ब्रह्म की सर्वव्यापकता का बोध कराना चाहा और साधारण जीवन व्यतीत करने पर जोर दिया। कबीरदास ने अपनी विद्रोही प्रवृत्ति के कारण ही वर्ग-भेद को समाप्त करने की चेष्टा की, इस रूप में हम उन्हें एक सामाजिक युग-पुरूष, क्रान्तिकारी नेता, समाज सुधारक कह सकते हैं। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि मनुष्य में ज्ञान की चरम स्थिति पर पहुँचने पर ही हो सकती है इसीलिए आडम्बर के विरोध में जीवन के लिए साधना की अपेक्षा पर जोर दिया है। कबीरदास रहस्यवादी कवि के रूप में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके काव्य में निर्गुण ब्रह्म (परोक्ष) के लिए आग्रह है और परोक्ष में आत्म-विलीन होने का आकुल-भाव है। आचार्य शुक्ल ने कबीर के उपर्युक्त सामाजिक पक्ष को न देखकर केवल काव्य-पक्ष को ही उनके मूल्यांकन का आधार बनाया। कबीर पर हठयोगियों की साधना का प्रभाव है, उपनिषदों का भी प्रभाव है। वस्तुतः कबीरदास अपने युग के रिनेसां के प्रवर्तक थे। उनके माध्यम से ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्य कवियों जैसे—रैदास आदि को भी स्वीकृति मिली। परिणामस्वरूप वे धर्मनिरपेक्ष समाज की रचना में भी क्रान्तिदर्शी का व्यक्तित्व रखने में समर्थ हुए। कबीर द्वारा शंकराचार्य के बाद सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति को उनके युग में नूतन अभिव्यक्ति मिली।

सगुण-धारा के कवि ईश्वर की साकारोपासना में निष्ठावान थे यही कारण है कि सगुण कवियों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों जैसे राम एवम् कृष्ण को आदर्श रूप में ग्रहण कर उन्हें काव्य में स्थान दिया। सूफ़ियों के बदले हुये प्रभाव को रोकने के लिये बल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की और उनके पुत्र बिट्ठलनाथ ने इसका प्रचार किया। शुद्धाद्वैतवाद को सैद्धांतिक आदर्श की पृष्ठिभूमि में कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों ने श्रीकृष्ण की मधुरोपासना मूलक मुक्तक-काव्य लिखे। राधा-कृष्ण की प्रणय लीलाओं के अनेक चित्र गति-काव्य के माध्यम से अष्टछाप के कवियों ने प्रस्तुत किये। आत्म-समर्पण की भावना की प्रधानता से सम्पन्न एवं आत्माभिव्यंजनामूलक तथा रसात्मक बोध की सम्पन्नतावश कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों का काव्य जीवन के कोमल पक्ष को प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल हुआ है। कृष्णाश्रयी शाखा के कवियों में आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति उच्चकोटि की तन्यमता तथा

आत्मसमर्पण की भावना थी । एक मूल केन्द्रीय भाव को एक पद में अभिव्यक्ति करके निस्सन्देह कृष्ण-भक्त कवियों ने हृदय पक्ष का सुन्दर उद्घाटन किया है । इन कवियों में अष्टछाप के कवि सूरदास, कुम्मनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छितस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुज स्वामी, नन्ददास आदि प्रमुख हैं । अष्टछाप के कवियों ने लोक संग्रह की भावना की उपेक्षा की । इन सबने राधा-कृष्ण के आनन्दमय एवं प्रेममय स्वरूप को लेकर बड़ी सुन्दर व्यंजनाएं प्रस्तुत कीं । संपूर्ण समाज अपूर्व आह्लाद में स्नान करने लगा । वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय विचारधारा के कारण, जिसमें भक्त और भगवान का अनन्य और अन्तरंग मिलन अभीष्ट है इसको इन भक्त कवियो ने सहज रूप में व्यक्तिवादी स्तर पर अपने काव्य में अभिव्यंजित किया । आचार्य शुक्ल सूरदास एवं कृष्ण-भक्त कवियों के भी समर्थक नहीं हो सके क्योंकि कृष्णभक्त कवियों में कथा का ताना-बाना बुनने की क्षमता नहीं थी । उनकी दृष्टि में ये कवि 'फुटकरिया' थे । जैसा पूर्व में ही कहा जा चुका है कि वे 'आलम्बनत्व के साधारणीकरण' के लिये प्रबन्ध तत्व को अनिवार्य मानते थे ताकि चरित्रों के माध्यम से बिम्ब ग्रहण व अर्थ ग्रहण करने की अनुभूति द्वारा सहृदय तादात्म्य पा सके । गीति काव्य में सौन्दर्यानुभूति के शुक्ल जी प्रशंसक हैं किन्तु आत्माभिव्यंजन के क्षेत्र में भावों की स्थिति-सीमा को सीमित मानते हैं । जिस काव्य में जीवन-दर्शन की व्याख्या हो, वही श्रेष्ठ है, यह मानकर ही वे तुलसीदास के काव्य 'रामचरितमानस' के प्रशंसक आलोचक हुए । मैं यह नहीं मानता कि चूँकि डॉ० ग्रियर्सन का प्रभाव उन पर था इसलिये उन्होंने तुलसीदास को अपने मनोनुकूल माना । डॉ० ग्रियर्सन के पास आलोचना के स्वनिर्मित प्रतिमान नहीं थे । शुक्ल जी ने अपने स्वमानों को आलोचना का श्रेष्ठतम स्तर माना, परिणामस्वरूप उनका साहित्य का इतिहास उनकी अपने प्रतिमानों व मूल्यों द्वारा अधिक अनुशासित है । यह अनुशासित स्वरूप व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्हें प्रतिबद्ध व ईमान-दार बनाता है ।[1] मैं यह भी मानता हूँ कि आचार्य शुक्ल

१—किन्तु शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है और यहाँ उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है। यहाँ शुक्ल जी ने अपने समीक्षा सम्बन्धी पैमानों का प्रयोग अधिकतर इतनी सफलता के साथ किया है कि उनका साहित्यिक इतिहास कवियों और काव्य-धाराओं के मूल्य-निर्धारण में त्रुटिपूर्ण नहीं प्रतीत होता ।

—नन्ददुलारे वाजपेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हि० सा० बीसवीं शताब्दी, पृ० ८८ ।

की ही भाँति डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी प्रतिबद्धता है क्योंकि कबीरदास की स्थापना करने वाले आलोचक के लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि सिद्ध व नाथ सम्प्रदाय के कवियों की योग परम्परा को वह महत्व दे तथा अपने सांस्कृतिक मूल्यों के विधेयकवादी पद्धति के अनुसार अविरल रूप से गतिशील हो।

आचार्य शुक्ल हिन्दी काव्य में स्थिति संस्कृति की भाव-चेतना की अंतः-सलिला से सम्बन्धित दर्शन की सूक्ष्म अन्तदृ ष्टि रखते हैं। साहित्येतिहास को उन्होंने 'जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिम्ब माना है।' आचार्य शुक्ल जी ने काल-विभाजन का तृतीय काल रीतिकाल है। शुक्ल जी ने 'रीति' अर्थ काव्य शैली, लक्षण व पद्धति के रूप में स्वीकार किया है। शुक्ल जी ने रीतिकालीन काव्य को अधिक महत्व न दिया। उनके अनुसार 'मन को इस प्रकार से ऊपर ही ऊपर आकर्षित करना, काव्य का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है मन को भिन्न-भिन्न भावों में लीन करना। 'इस प्रकार स्पष्ट है कि रसवादी समीक्षक के रूप में उन्होंने वक्रोवित, अलंकार मतों के अलावा भाषा-पक्ष पर कवियों के अधिक दिये जाने की प्रशंसा नहीं की। नायिका भेद व धनिख-शिख वर्णनादि में उन्हें भाव-प्रकाशन का गुण नहीं मिला। रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व में शुक्ल जी ने अपना विश्वास नहीं प्रकट किया।

आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल को साहित्य के इतिहास की दृष्टि से आवश्यकतानुसार महत्व को दिया किन्तु भाव-मूल्यों व सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से नहीं। यह कार्य सम्भवतः उन्होंने पं० नन्ददुलारे बाजपेयी पर इसलिये छोड़ दिया होगा क्योंकि वे सौन्दर्यानुभूति के नाम पर छायावाद को समर्थन दे ही रहे थे। किन्तु रीतिकाल उनके द्वारा उपेक्षित रहा। 'रीतिकाल' के अलावा इस काल के अन्य नामकरण भी रखे गये,—जैसे श्रृंगारकाल, कला-काल, अलंकार-काल आदि। किन्तु रीतिकाल का नामकरण कला की प्रवृत्ति-प्रधानता, श्रृंगार व अलंकार के लक्षण की प्रधानता को अपने स्वयं में समाहित किये हुये हैं।

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल को गद्य-काल कहा है। उनके कथन का आशय सम्भवतः यह रहा है कि शेष तीन काल पद्य-काव्य से सम्बन्धित थे। आधुनिक काल में ही गद्य सशक्त रूप में अभिव्यक्ति का माध्यम बना। गद्य के क्षेत्र में अनेक विधाओं में लेखन हुआ। आधुनिक काल के मूल्यांकन में शुक्ल जी ने काव्य-क्षेत्र में प्रबन्धकारों को ही प्रश्रय दिया, साथ ही

सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा जिन्होंने की, उन्हें महत्व दिता । इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिली शरण गुप्त, हरिऔध, श्यामनारायण पाण्डेय, गुरुभक्तसिंह 'भक्त' आदि विशेष रूप से महत्व पा सके। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, लोक दृष्टि, चरित्रमूलकता, आदर्शवादिता को ही उन्होंने आलोचना के मानदण्ड निर्धारित करने के उद्देश्य से अपने अनुकूल पाया । छायावाद उनकी रुचि के अन्तर्गत नहीं रहा। आधुनिक काल को भी उन्होंने युगों में विभाजित किया ।

आचार्य शुक्ल ने इतिहास-लेखन की प्रक्रिया को जीवन्त-गुण की भाँति चेतना के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने अपने इतिहास में अपनी आलोचना को व्यावहारिक (Practical) एवं प्रयोगात्मक (Applied) बनाया है। जैसा अनेक विद्वानों का मत है कि साहित्येतिहास के लिये आलोचना का होना आवश्यक नहीं । किन्तु शुक्ल जी ने अपने साहित्येतिहास द्वारा कवियों व लेखकों की आलोचना युग-सापेक्ष्य-संदर्भ में अपने मानों के आधार पर किया है। "शुक्ल जी के अनुसार जीवन का साधन-सिद्धांत लोक-कर्म है और साध्य लोक-मंगल है। अतः उन्होंने लोकमंडल की कसौटी पर अपने इतिहास में हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियों तथा कवियों को परखा है, सच्चे कवि की कसौटी लोक-धर्म की पहिचान मानी है, लोक-धर्म के प्रमुख तत्व लोक-प्रवृत्तियों के आधार पर काल-विभाजन किया है।"

डा० रामलालसिंह का कथन उचित ही है कि लोक-मंगल के विरूद्ध पड़ने वाले पूर्व तथा पश्चिम के विविध साहित्यवादों, रीति-वाद, अलंकार, कलावाद, रहस्यवाद, छायावाद, हालावाद आदि की यथाप्रसंग शुक्ल जी खन्डन किया है।[1] आचार्य शुक्ल अपने आलोचक एवं साहित्येतिहासकार व्यक्तित्व में क्रिएटिव हैं क्योंकि उनमें कवि जैसा भाव-बोध-सौन्दर्य-कल्पना बोध एवं अंतस् को स्पर्श करने की कलात्मक क्षमता है । यदि दोष माना व ढूँढ़ा ही जाय तो वह कहा जा सकता है कि वे काव्यालोचक अधिक है और काव्य के इतिहासकार कम। 'कम' इसलिये हैं कि इतिहास की सम-सामयिक चेतना को लेकर वे जिये नहीं जितना जिया जाना चाहिये था।

आचार्य शुक्ल का साहित्येतिहास राजा राममोहन राय से लेकर

---

1 **डॉ० रामलाल सिंह : आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत, पृ० ५९ ।**

उनके समय तक सम्पादित राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक आन्दोलन को काव्य का आदर्शोन्मुख सामाजिक प्रतिमान रुप देता है जो रचनाओं के रूप में प्रवृत्ति बनकर 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। आचार्य शुक्ल समूची एक शताब्दी की राष्ट्रीय-चेतना के मुखर करने में लोक मंगल के स्थापक थे। उनका निर्माण युग-सापेक्ष्य सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना ने की थी। यही कारण है कि वे सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की व्याख्या करने वाली, प्रबन्धात्मक रचनाओं में निहित लोक-जीवन व उसके व्यापक परिप्रेक्ष्यों को उद्घाटित करने के उद्देश्य से कबीरदास, सूरदास व छायावादी कवियों को समर्थन न दे सके।

आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्येतिहास में 'सांस्कृतिक भावना', 'जातीय भावना', 'अकर्मण्य मनुष्य को कर्मण्य बनाने की चेष्टा', एवं राष्ट्रीयता की आधारशिला पर ही रीतिकालीन 'दरबारी' कवियों की आलोचना की है तथा विदेशी तत्वों का साहित्य में लड़ते हुए प्रभाव का विरोध किया है।

काव्य में उच्चादर्शों की उपलब्धि का विधान हो, प्रबन्ध-काव्य हो ताकि जीवन-दर्शन की प्रस्तुत भूमिका का निर्वाह भाव के आलम्बन और आश्रय के माध्यम से हो, प्रकृति-चित्रण हो, परोक्षसत्ता का सगुण-स्वरूप हो, रस हो, औदात्य हो और उसी सन्दर्भ में देवत्व की प्रतिष्ठा हो ताकि काव्य सामाजिक मूल्यों का संवर्द्धन कर सकें; उस स्थापना व मान्यता के आधार पर ही शुक्ल जी ने छायावाद के प्रगीत-विधान में निहित सौन्दर्यानुभूति को महत्व न देकर लोक-मंगल की भावना का पोषण किया। गीतिकाव्य के ही माध्यम से शुक्ल जी के अनुसार पश्चिमीय प्रभाव क्रमशः साहित्य में पुष्पित व पल्लवित हो रहा था। शुक्ल जी ने प्रबन्ध-परम्परा को जीवित रखने का दृढ़ संकल्प किया हो और अपने साहित्येतिहास में प्रबन्धकारों को श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी घोषित किया।

आचार्य शुक्ल ने आधुनिक काल संवत् १९०० से स्वीकार किया और उसकी मूल प्रवृत्ति को विशिष्टता के आधार पर गद्य-काल भी कहा है। इस काल को गद्य व पद्य धाराओं के रूप में विभाजन करते हुये 'उत्थानों' का विभाजन इस प्रकार किया है :—

प्रथम उत्थान—सं० १९२५-५०
द्वितीय उत्थान—सं० १९५०-७५
तृतीय उत्थान—सं० १९७५ से—

पद्य-काव्य धारा की परम्परा के अन्तर्गत भारतेन्दु युगीन व द्विवेदी-युगीन लोक-मंगल-पृष्ठ भूमि की प्रशंसा करने के पश्चात् छायावादी काव्य-सृजन में मानवीयकरण (personification) विशेषण विपर्यय, प्रकृति को आलम्बन के रूप में स्वीकृति दी गयी, वह वस्तुत: शुक्ल जी के अनुसार शिल्प के क्षेत्र में बढ़ता हुआ प्रभाव कहा गया । यही कारण है कि उन्होंने छायावाद को 'शैली' के रूप में परिभाषित किया । यह दृष्टव्य है कि आचार्य शुक्ल कृत इतिहास ने छायावाद को वह स्थान व स्वरूप न दिया जैसी अपेक्षा पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी करते थे ।[1] आचार्य शुक्ल समझते थे—प्रबंध परम्परा की अक्षुण्यता में भारतीय सगुणवाद संरक्षित रहेगा और सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन न होगा

इसी प्रकार उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद जोशी के सेक्स-अपील प्रधान व फ्रॉयड के प्रभाव पर आधारित व्यक्तिवादी एवं मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों के स्थान पर प्रेमचन्द शुक्ल जी के अधिक मनोनुकूल थे।

डा० रामविलास जी १९६४ के मनोनुकूल शुक्ल जी इसलिये भी हैं कि वे केवल मंगल की भावना में व्यक्तिवाद का विरोध करते हैं तथा सामाजिक चेतना का समर्थन । डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार 'शुक्ल जी के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता है—उसका सुगठित रूप, इतिहासकार के रूप में घटनाओं को उचित संदर्भ (perspective) देने की कोशिश । हिन्दी-

---

1—आशय जहाँ जहाँ और जब जब शुक्ल जी ने अपनी काव्य माप में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को प्रवेश करने दिया है—उदाहरण के लिये कथात्मक साहित्य या प्रबंध रचना को मुक्तक काव्य पर तरजीह दी और निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण पक्ष की वकालत की—वहाँ-वहाँ उन्हें अक्सर काव्य की परख करने में कठिनाई हुई । डी.एल, राय ने रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा उच्चतम भाव संवेदन का निरूपण करना इसी प्रकार के पक्षपात का परिणाम है । इसी के फलस्वरूप उन्हें हिन्दी के आधुनिक कवियों में भी कुछ अनधिकारियों अथवा अन्धअधिकारियों को उचित से अधिक महत्व देना पड़ा है पण्डित नन्द दुलारे वाजपेई, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल गद्य संकलन, पृ० ।

साहित्य की विकास-धारा को उचित संदर्भ में बाँधकर भी उसके परिप्रेक्ष्य में कृतियों की आलोचना प्रस्तुत करने की दिशा में शुक्ल जी अपने पूर्ववर्ती सभी इतिहास-लेखकों से आगे निकल गये हैं। पर जो शुक्लजी की अपनी उपलब्धियां हैं वे ही उनकी सीमाएँ भी बन जाती हैं।

आचार्य शुक्ल के इतिहास की विशेषताओं की ओर विद्वानों का ध्यान गया है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में उनकी अपनी विशेष दृष्टि है। उन्होंने भूमिका में ही अपने मंतव्य स्पष्ट कर दिया है कि 'केवल कवि-वृत्त को पूर्व, मध्य व उत्तर आदि खण्डनों में आँख मूंदकर विभक्त कर देने मात्र को ही साहित्य का इतिहास नहीं कहेंगे। बहुत स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने अपने युग में साहित्य के इतिहास को कवियों के मूल्यांकन द्वारा सामाजिक भूमिका प्रदान की।

———

हिन्दी समालोचना का विकास

युग विभाजन—

समालोचना के विकास का युग-विभाजन डॉ० वेंकट शर्मा ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

(१) समालोचना का प्रवर्तन काल (भारतेन्दु-युग)
(२) समालोचना का संबर्द्धन काल (द्विवेदी-युग)
(३) समालोचना का विकास-काल (शुक्ल-युग)
(४) समालोचना का प्रसार-काल (शुक्लोत्तर-युग)

डॉ० बेंकट सर्मा के उपर्युक्त काल-विभाजन को प्रसिद्ध विद्वान डॉ० नगेन्द्र ने समर्थन दिया है। इसमें कहीं भी विवाद नहीं कि भारतेन्दु-युग आधुनिक-युग की प्रायः सभी विधाओं का प्रवर्तन काल है। भारतेन्दु-युग निःसन्देह ब्रजभाषा-काव्य को छोड़कर खड़ी-बोली के गद्य-पद्य का और सभी विधाओं का प्रस्तावित रूप था इसमें भी सन्देह नहीं कि द्विवेदी-युग 'संबर्द्धन काल' की दिशाओं का सूचक है और उसमें आचार्य शुक्ल के माध्यम से विकास की स्थितियां विद्यमान हैं। द्विवेदी-युग को पृथक युग की दृष्टि से न देख, एक युग-प्रवृत्ति के दो व्यक्तियों को दो भिन्न नामों से दो युग न बनाकर यह समझना एाहिए कि हिन्दी-आलोचना के इतिहास में द्विवेदी जी के समकालीनों की प्रवत्तियों को गतिशील बनाने वाले आलोचक आचार्य शुक्ल हैं। इसलिये द्विवेदी जी का समय-शुक्ल युग है। 'आचार्य शुक्ल का आलोचक, राजा राममोहन राय से लेकर उनके समय तक के सम्पादित राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक आन्दोलन को साहित्य का आदर्शोन्मुख प्रतिमान-रूप देता है, जो रचनाओं के समूचे रूप में प्रवृत्ति बनकर द्विवेदी-युग के नाम से जाना जाता है। डॉ० वेंकट शर्मा ने द्विवेदी-युग का समय केवल उनके सम्पादन-काल {सन् १९०१ (३)—२०} को ही विशेषतः माना है। समालोचना के क्षेत्र में सन् १९१३ में 'मिश्रबंधु विनोद' का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण है। तभी संबर्द्धनमूलक दिशाएँ मिली। इसी समय हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका भी आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित प्रकाशित हो गयी

थी। आचार्य शुक्ल तो द्विवेदी युग के शीर्षस्थ समालोचक हैं। द्विवेदी युग की ही प्रवृत्तियां आचार्य शुक्ल के माध्यम द्विवेदी-युग से अलग तटस्थ रूप देकर शुक्ल युग की मान्यता निर्मूल है। मेरी सम्मति में समालोचना का युग-विभाजन इस प्रकार ही सम्भव है—

(१) प्रस्तावित या प्रवर्तन-काल

(२) संबर्द्धन काल या विकास-काल (द्विवेदी-युग)

(३) प्रसार-काल-पूर्वार्द्ध-बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक से १९३०–४० उत्तरार्द्ध–(बीसवीं शताब्दी के पंचम दशक में सन् १९४२ से अब तक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल समालोचना के विकास-काल के सर्वश्रेष्ठ समालोचक हैं। उनके द्वारा समालोचना का व्यावहारिक व सैद्धांतिक विकास भूमिकाओं में, निबन्धों में, इतिहास के संदर्भ में हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने काव्यगत प्रतिमान स्थिर किये। आचार्य शुक्ल की सामाजिकता का आग्रह प्रथम महायुद्ध की प्रतिक्रिया का परिणाम है। प्रसार-काल का समय सन् १९३१ से रखना उचित होगा। इसके पूर्व ही आचार्य शुक्ल की कृतियों का प्रकाशन हुआ था। प्रसार-काल मेरे अनुसार इस प्रकार होगा—
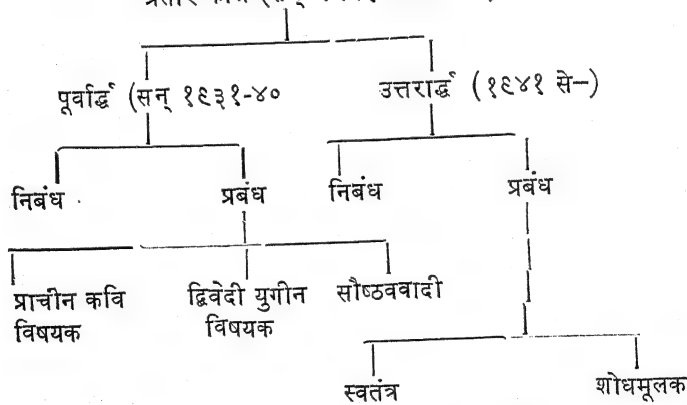
प्रसार-काल के पूर्वार्द्ध तक समालोचनाओं में निबंध का लेखन यथावत होता आया, उदाहरणार्थ पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी अभी तक निबन्ध के माध्यम से समालोचना-गुण का विकास करते आ रहे हैं।

३—प्रसार-काल की पूर्वार्द्ध की रचनाओं में प्रबंध के अन्तर्गत प्राचीन कवियों के अध्ययन में पं० कृष्ण शंकर कृत 'केशव की काव्य-कला' तथा डॉ० द्विवेदी कृत 'कबीर' उल्लेख्य हैं। प्रसार-काल में द्विवेदी युगीन कवियों के अध्ययन में विषयक साहित्यिक समालोचना में प्रबन्धत्व के स्वरूप का विकास स्वर्गीम पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत महाकवि हरिऔध (सन् १९३४) एवं गुप्त जी की काव्य-धारा (सन् १९३७) से होता है। इसी प्रकार प्रसार-काल के पूर्वार्द्ध की समालोचनाओं में सौष्ठववादी आलोचकों के प्रबंध रूप में डॉ० नगेन्द्र कृत 'सुमित्रानंदन पंत' को स्थान दिया जाना चाहिये।

३—प्रसार-काल के उत्तरार्द्ध में (सन् १९४१ के बाद) समालोचना के प्रबंध-रूप में स्वतन्त्र-समीक्षा का लेखन भी सम्मन्न हुआ—डॉ० सत्येन्द्र कृत 'गुप्त जी की काव्य-कला'; डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी कृत 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास' एवं 'गुप्त जी का करुण्य-धारा', डॉ० नागेन्द्र कृत 'साकेत : एक अध्ययन' एवं 'सियाराम शरण गुप्त विशम्भरमानव कृत सुमित्रानंदन पंत, गंगाप्रसाद पाण्डेय कृत 'महाप्राण निराला' आदि। प्रसार-काल के उत्तरार्द्ध में समालोचना-प्रबंध में ऐतिहासिक एवं शोधमूलक अध्ययन की प्रवृत्ति आयी। डॉ० बढ़थ्वाल के शोध के पश्चात् डॉ० रामकुमार वर्मा कृत 'कबीर का रहस्यवाद', डा० वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १८५०-१९००) डॉ० श्रीकृष्ण लाल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् ११००-२५), डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा कृत 'सूरदास', डॉ० माताप्रसाद गुप्त कृत 'तुलसीदास' जैसे सैकड़ों शोध ग्रन्थों को स्थान दिया जाना चाहिए।

डॉ० वेंकट शर्मा कृत 'समालोचना का विकास' शोध-ग्रन्थ की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए डॉ० नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं—'लेखक का अध्ययन व्यापक है।......अपने मूल विषय से सम्बद्ध वाङ्‌मय का उसने प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन किया है और छोटे-बड़े आलोचकों की पृथक् आलोचना अत्यन्त सहृदयता के साथ, सँभालकर की है। आधारभूत सिद्धान्तों के विवेचन, हिन्दी-आलोचना के विकास के प्रत्येक चरण की प्रमुख प्रवृत्तियों और उनके प्रतिनिधि लेखकों के विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन के कारण यह ग्रन्थ निश्चय ही आधुनिक आलोचना का सर्वांगपूर्ण और प्रमाणिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।[1]

विकास

हिन्दी-समालोचना का प्रारंभ वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग से

१. डा० वेंकट शर्मा—हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास-प्रस्तावना।

होता है । समालोचना अथवा समीक्षा का विकास वस्तुतः साहित्यिक सृजन पर निर्भर करता है । साहित्यिक-सृजन के क्षेत्र में भारतेन्दु का युग ही ऐसा प्रथम युग रहा जब साहित्य-लेखन व सृजन राज्याश्रय से मुक्त रहा । भारतेन्दु-पूर्व रीति-कालीन हिन्दी-काव्य राज्याश्रय में पल्लवित व पुष्पित होकर केवल सीमित क्षेत्र में आश्रयदाता के मनोरंजन की वस्तु मात्र था । भारतेन्दु व उनके समकालीन लेखकों द्वारा सर्वप्रथम भारतीय मनुष्य व समाज साहित्य का विषय बना । अंगरेजों के आगमन पर और उनके स्थापित हो जाने पर, समाज में बौद्धिक चेतना का स्पन्दन भारतीय समाज में होता है । सर्वप्रथम साहित्य की अभिव्यक्ति में राष्ट्रीय मूल्य व जातीय विकास की संभावनाएँ बढ़ीं राम, कृष्ण की परम्परा में काव्य इसलिए भी सिमट गया था कि हिन्दी के अन्तर्गत ब्रज व अवधी बोलियों में ही उन्हें विशेषः स्थान दिया जाता रहा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं में युग-बोधक व्यक्तित्व इसलिए बन सके कि उनके माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत विचार-चिन्तन प्रस्तुत हों सका । सन् १८५७ के असफल सिपाही-विद्रोह की प्रतिक्रिया से कुण्ठित भारतीय समाज आत्म-प्रगति के सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर गतिशील हुआ । भारतेन्दु-युग ऐसे कुण्ठाग्रस्त भारतीय जन-मानस के आन्दोलित द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति है ।[1]

भारतेन्दु युग में गद्य-विधाओं में उपन्यास, नाटक, निबन्ध एवं खड़ी-बोली का स्फुट काव्य का सृजन होने लगा था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतेन्दु मैग-जीन (बाद में भारतेन्दु चंद्रिका), चौधरी बदरीनारायण प्रेमघन ने आनंद कादम्बिनी एवं नागरी नीरद, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' तथा बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन किया । इन पत्रों के माध्यम से सामाजिक स्तर की कुरीतियों, रूढ़ियों व परम्पराओं के विरुद्ध आलोचनाएँ होतीं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि लेखक जन-भावनाओं की अभिव्यक्ति देना अपना धर्म मानता है । इन पत्रों में प्रकाशित टिप्पणियों द्वारा बदलती हुई परिस्थितियों के मूल्यों की सही पहिचान मिलती है ।

1—भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से सन्तुष्ट न रहकर उसमें सुधार भी चाहता है । वह राज-नीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और माध्यम का साहित्य है ।

—डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं श्रेष्ठ नाटकार थे। इसलिए उन्होंने नाटक नामक एक निबन्ध द्वारा उसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना की। भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रप्रेम की भावना व्यक्त करते हुए रस-तत्व की भी विवेचना की। यही नहीं, उन्होंने कालिदास व शेक्सपीयर, दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। भारतेन्दु जी ने जयदेव, कालिदास पर आलोचना लिखी और उनके अनेक ऐसे भी निबन्ध हैं जिसमें भाषा व साहित्य के मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई।

जहाँ तक समालोचना का प्रश्न है भारतेन्दु जी ने इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य नहीं किया फिर भी जो कुछ भी कार्य उन्होंने किया वह आरंभिक दृष्टि से महत्व-पूर्ण है। उन्होंने 'जयदेव', 'कालिदास' 'सूरदास' और पुष्पदंताचार्य आदि कवियों की जो चरित्रावली लिखी है उसमें समालोचनोचित का अधिक प्रसार भले ही न मिले किन्तु कालांतर में विकसित होने वाली चरित मूलक समालोचना पद्धति गर्भहित हैं। भारतेन्दु द्वारा लिखित ये जीवन परिचय 'कविवचन सुधा' और हरिश्चंद्र चंद्रिका के अंकों में प्रकाशित होते थे। उनकी समालोचनाओं का एक अंक पुरातत्वज्ञान से सम्बद्ध था। इसी प्रकार भारतेन्दु जी ने श्री शांडिल्य ऋषि के भक्त के सौ सूत्रों पर 'भक्ति-सूत्र बैजयन्ती' के नाम से जो भाषा भाष्य लिखा है वह विशुद्ध साहित्य समालोचना न होने पर भक्ति काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अध्ययन में पूर्वपीठिका का काम दे ही सकती है।

रचना व आलोचना अन्योन्याश्रित हैं। आनंद कादम्बिनी में प्रेमघन ने बाबू गदाधर सिंह कृत 'बेग विजेता' जो बंगला से हिन्दी में अनूदित हुआ था, की आलोचना अपने पत्र में की थी। इसी प्रकार प्रेमघन जी ने लाला श्रीनिवासदास के एक नाटक 'सीता स्वयम्बर' पर २१ पृष्ठों में आलोचना की थी।

प्रेमघन की इस आलोचना में ऐतिहासिक एवं व्याख्यात्मक आलोचना के लक्षण पारिलक्षित हुए। 'दृश्य रूपक या नाटक' के स्वरूप-निर्धारण के उद्देश्य प्रेमघन जी द्वारा सैद्धांतिक विवेचन हुआ उर्दू बेगम, नीलदेवी आदि का भी पृथक रूप से उनके द्वारा पुस्तक-परिचय के रूप में आलोचना हुई। प्रेमघन जी ने अपने पत्र में 'नागरी भाषा' 'हमारी प्यारी हिन्दी' जैसे निबन्धों में आलोचना का परिचय दिया।

भट्टजी ने हिन्दी-प्रदीप में मौलिक निबन्धों के लेखन के अतिरिक्त आलो-चना कार्य के भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। प्रवृत्यात्मक दृष्टि से उन्होंने अपने समसामयिक युग-प्रवाह व चेतना को अधिक से अधिक आत्मसात्

किया । भवभूत् कालिदास पर भी पृथक् रूप से साहित्यिक मूल्यांकन उनके द्वारा सम्पन्न हुआ । 'नीलदेवी' व 'परीक्षा-गुरू' की भी हिन्दी-प्रदीप में उन्होंने समीक्षा, की भट्ट जी के माध्यम से शास्त्रीय, सैद्धांतिक आलोचना एवं व्यावहारिक समीक्षा के आरंभिक स्वरूप का दर्शन होता है ।

औपनिवेशिक सभ्यता के निरन्तर प्रभाव पड़ते रहने से भारतेन्दु के समकालीन लेखकों को एक ओर दासता के बन्धन की वास्तविक अनुभूति हुई और दूसरी ओर संसार में विश्व को समझने का भी अवसर प्राप्त हुआ । योरोप की औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप योरोप के देशों में जिस प्रकार कुण्ठा व निराशा व्याप्त हुई थी, उसी प्रकार यहाँ भी अंगरेजों द्वारा शोषण किये जाने के कारण वातावरण बना । वैज्ञानिक प्रगति से जो बौद्धिक जागरण योरोप में हुआ, वही बौद्धिक जागरण इस देश में सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में प्रकट होने लगा । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास आदि की कृतियों में सामाजिक जागरण (सोहाल कोशसनेस) परिलक्षित होता है । साहित्य में राम व कृष्ण का स्थान सामान्य मनुष्य ने ले लिया, उसी सन्दर्भ में रूढ़ियों, परम्पराओं, अन्य-विश्वासों की आलोचना होने लगी और सामाजिक स्तर पर सुधार वादी दृष्टिकोण साहित्य में आने लगा ।

मैं पूर्व-ही कह चुका हूँ कि हिन्दी-आलोचना आरंभ प्रकाशित कृतियों पर लिखी जाने वाली टिप्पणियों एवं रिव्यू के रूप में अधिक मिलता है । सुधारवादी दृष्टिकोण ही आलोचना का मूल्य रहा और उससे अधिक नहीं । इसी प्रकार श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री द्वारा 'सच्ची-समालोचना' का प्रकाशन (सन् १८९८) में हुआ, उल्लेखनीय है । यहाँ यह कहना भी उचित होगा कि हिन्दी-समालोचना संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से मुक्त रही । छन्द, अलंकार, रस तथा अन्य शास्त्रीय सम्प्रदायों से मुक्त होकर आलोचना का प्रारंभिक रूप गुण-दोष-विवेचन तक ही सीमित रहा ।

पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री लिखित और काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित समालोचना शीर्षक निबन्ध बनारस के चन्द्र प्रभा प्रेस से लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ ।[1] इससे समालोचना के तत्कालीन स्वरूप का यथेष्ठ ज्ञान हो जाता है । पुस्तक के आरम्भ में लेखक ने 'भामिनी विलास' से

---

1. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८६ पृष्ठ १७, संयोगिता स्वयंवर की सच्ची आलोचना ।

उस श्लोक को उद्धृत किया है जिसमें हंस को नीर-क्षीर विवेकी शक्ति से समन्वित कहकर उसे इस बात के लिये सावधान किया है कि यदि उसने अपने व्रत का पालन करने में आलस्य किया तो निश्चय ही अनिष्ट की संभावना है क्योंकि अन्य प्राणियों में उसके समान विवेक शक्ति का अभाव है। अग्निहोत्री जी साहित्य समृद्धि के लिये ग्रन्थों के यथार्थ परीक्षकों अर्थात् समालोचकों का होना आवश्यक मानते हैं क्योंकि उनके द्वारा भाषा को बहुत लाभ पहुँचता है।[1] 'अग्निहोत्री जी के समय में अंग्रेजी भाषा और साहित्य का कितना महत्व था उस ओर संकेत करते हुए आपने बताया है कि अंग्रेजी भाषा में जानसन मैकाले कैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों के उत्तमोतम ग्रन्थ निश्चय ही समालोचना के क्षेत्र में मार्मिक सम्मति देने वाले हैं और उनकी समता में भाषा पण्डित या व्युत्पन्न शास्त्री हीन पड़ते हैं।[2]'

श्री अग्निहोत्री द्वारा लिखित 'समालोचना के माध्यम से सर्व-प्रथम समालोचक के नैतिक कर्त्तव्य का बोध होता है।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ

बीसवीं शताब्दी का साहित्यिक आरम्भ पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सरस्वती-सम्पादन-काल (सन् १९०३-२०) से विशेष रूप से माना जाता है। सरस्वती का प्रकाशन इण्डियन प्रेस द्वारा सन् १९०० से शुरू होता है। भारतेन्दु के समकालीन लेखकों के युग में समालोचना का स्वरूप नाम-मात्र के लिये था। सरस्वती के प्रथम सम्पादक मण्डल में श्री जगन्नाथदास, श्यामसुन्दर दास, श्री राधाकृष्ण दास, श्रीकार्तिकेय प्रसाद एवं श्री किशोरी लाल थे। उक्त नामों में 'सरस्वती' द्वारा समाचोचना को गति देने के निमित्त श्री श्यामसुन्दर दास का नाम ही उल्लेखनीय रहा है। एक वर्ष बाद, एक मात्र श्री श्यामसुन्दर दास ही सम्पादक रह गये थे। सन् १९०३ में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्पादक हुए। द्विवेदी जी सम्पादक होने के बाद से ही, समस्त लेखकों एवं कवियों के लिए उपलब्धि बन गये। उनको ही केन्द्रित बिन्दु स्वीकार करके साहित्य में रचना-प्रवृत्ति बढ़ीं। द्विवेदी जी खड़ी-बोली के आग्रह को लेकर गतिशील हुए थे। खड़ी-बोली और राष्ट्रीय आन्दोलन एक दूसरे के पूरक हो गए थे।

---

1. पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री—'समालोचना', चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस, सन् १८९६, पृष्ठ २०।
2. डॉ० वेंकट शर्मा—आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक आरम्भ तक ब्रिटिश सरकार का शासन सुस्थापित हो गया था। किन्तु बौद्धिक जागृति द्वारा राजनीतिक चेतना जन-मानस को आन्दोलित करने लगी थी। दादा भाई नौरोजी, गोखले, लोकमान्य तिलक, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, श्रीमती ऐनी बेसेण्ट आदि भारतीय जन-मन को प्रभावित करने लगे। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का उद्देश्य कुछ और हो गया यह राजनीतिक मंच हो गया। कांग्रेस से बंग-भंग के कारण दो दल हो गये नरम-दल और गरम दल। इसी बीच हिन्दू सभा एवं मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। साम्प्रदायिक भावनाओं को भी अंग्रेजी सत्ता ने उभारा। अलीगढ़ मुस्लिम साम्प्रदायिकता का केन्द्र बनता गया।

सन् १९१४ में प्रथम विश्व महायुद्ध शुरू हो जाता है। ब्रिटिश हुकूमत भी इसमें हिस्सेदार थी। भारतीय सेना व सिपाहियों को ब्रिटिश हुकूमत ने अपनी शक्ति के रूप में उपयोग किया। लोकमान्य तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' की घोषणा की। इसी बीच अफ्रीका में रंग-भेद के विरुद्ध आन्दोलन करके महात्मा गांधी भारत वापस आये। वीर सावरकर और अन्य नवयुवकों ने हिंसात्मक क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार की। गांधी जी ने कांग्रेस के मंच से ही ब्रिटिश शासन से यह कहा कि भारतीय महायुद्ध में मदद अवश्य देंगे किन्तु उन्हें स्वराज्य मिलना चाहिये। दूसरी ओर मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने 'पाकिस्तान' की मांग पेश कर दी। इसका लाभ अंगरेजों ने उठाया।

देश में राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक मंच निर्मित हो जाने के साथ ही विश्व महायुद्ध ने विशेष रूप से जन-मानस में जागृति उत्पन्न की। सर्वप्रथम भारतीय मनुष्य ने जाना कि विश्व क्या है? महायुद्ध के महानाश का प्रभाव भारतीय राजनीति पर भी पड़ा। द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में भारतीय मनुष्य अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बद्ध होता गया। वह डेमोक्रेसी की परिभाषा समझने लगा। उसमें क्रांति की ज्वाला घर करने लगी जिसे गांधी जी ने अहिंसात्मक आन्दोलनों द्वारा शांत करना चाहा। गांधी जी का अहिंसात्मक दृष्टिकोण सामाजिक सुधारवाद से अधिक सम्बद्ध था। रूसी क्रांति जो लेनिन के माध्यम से सम्पन्न होकर भारतीयों के सामने आया, वे क्रांति को हिंसा से जोड़कर गतिशील हुए। गांधी जी का आन्दोलन गृह-उद्योग के विकास, चरित्र-बल, मनोबल के विकास को मान्यता देता रहा। उनका सामाजिक सुधार आर्य-समाज से प्रेरित था।

दूसरे महायुद्ध (सन् १९१९) से पूर्व और प्रथम महायुद्ध के आरम्भ (सन् १९३९) के बीच, बीस वर्षों का साहित्य गांधी जी की विचारधारा से प्रभावित हुआ। यही साहित्य स्वच्छन्दतावादी संदर्भों में छायावादी साहित्य के रूप में जन-जीवन के सामाजिक संघर्षों से पलायन करता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का सरस्वती सम्पादन-काल

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम आता है जिन्होंने हिन्दी-भाषा के प्रचार व प्रसार के साहित्यिक प्रवृति को एक नवीन दिशा दी। भारतेन्दु और द्विवेदी जी, दोनों में अन्तर अवश्य है, प्रमुख अन्तर सबसे यही है कि हरिश्चन्द्र ने भाषा-प्रचार के लिये संगठनात्मक रूप से जितना कार्य किया साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में भी उतना ही कार्य किया। द्विवेदी जी में भी सर्जनात्मक क्षमताएँ थीं, लेकिन भारतेन्दु जी से अधिक नहीं। यदि द्विवेदी जी ने हिन्दी खड़ी-बोली को स्वरूप दिया तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जीवन। यहाँ स्वरूप व जीवन को स्पष्ट करना उचित होगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व खड़ी-बोली गद्य व पद्यभाषा के स्वरूप को निर्धारित करने के उद्देश्य से अनेक प्रस्तावित नमूने पेस हुए थे और हरिश्चन्द्र ने भाषा व साहित्य के बीच संयोग उपस्थित करके उसे प्राणान्वित किया। भाषा-साहित्य के माध्यम से आत्मा सम्पन्न होकर संजीवित दशा को प्राप्त हुई। भारतेन्दु की बहुमुखी प्रतिभा से और उनके द्वारा अनुप्रेरित समकालीन साहित्यकारों के माध्यम से खड़ी-बोली गद्य-पद्य को इतना ही लाभ हो सका कि अधिकांश विधाओं का जन्म हो सका। समालोचना, निबन्ध, नाटक, उपन्यास आदि गद्य-विधाओं तथा पद्य के अन्तर्गत स्फुटकाव्य-लेखन को साहित्यिक दृष्टि से एवं सैद्धांतिक अथवा पारिभाषिक दृष्टि से जीवतत्व बोध की मान्यता मिली। मैंने भारतेन्दु-युग को सन् १८६३-९३ तक ही माना है।[1]

भारतेन्दु-युग में खड़ी-बोली में ही विशेष रूप से लिखा गया लेकिन ब्रजभाषा काव्य-लेखन की परम्परा को भी उक्त युगीन साहित्यकारों द्वारा अक्षुण्ण रखा गया। खड़ी-बोली—जैसा सिद्ध हो चुका है कि उत्तर-भारत की सर्वसाधारण जनता की सार्वजनिक भावनाओं को व्यक्त करने में, उसके, सामर्थ्य

1—देखिये—लेखक का 'माध्यम' (अक्टूबर ६४, पृ० ३२-४०) में प्रकाशित निबन्ध।

पर अविश्वासी लोग भी विश्वास प्रकट करने के लिये विवश हो गये थे। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईसाई धर्म-प्रचारक, सनातन-धर्म-समाज के प्रचारक आदि सभी सामान्य भाषा को नूतन विचार-दर्शनों की अभि-व्यक्ति हेतु स्वीकार करना चाहते थे। ब्रजभाषा साहित्यिक वैभव की सम्पन्नता रखते हुए भी १६ वीं शताब्दी की वैचारिक धाराओं को व्यक्त करने में असमर्थ थी। ब्रजभाषा केवल कृष्ण-भक्ति साहित्य के अतिरिक्त कुछ देने में समर्थ ही नहीं थी। राम व कृष्ण दो अवतारी पुरुषों के माध्यम से ब्रज व अवधी में साहित्य-रचना हुई, कारण भी प्रत्यक्ष था कि राम अयोध्या निवासी थे और अवध-नरेश थे, अतएव उनके प्रान्त की बोली अवधी में काव्य-प्रणयन नितान्त स्वाभाविक था, उसी प्रकार श्री कृष्ण ब्रज-निवासी थे अतएव ब्रज में काव्य-लेखन उचित था। इस प्रकार ब्रज व अवधी अवतारी पुरुषों की प्रान्तीय बोलियों (भाषाओं) की संकीर्णता में ही परिसीमित रहा। वैसे अन्य विपरीत उदाहरण भी हैं, जैसे जायसी कृत 'पद्मावत' अवधी में लिखित प्रबन्ध-काव्य है और तुलसीदास ने ब्रज में 'विनय-पत्रिका' लिखी। इसके सन्दर्भ में इतना ही कथन यथेष्ठ होगा कि जायसी का अवधी में लेखन निज भाषा-ज्ञान से सम्बन्धित माना जाना चाहिए और तुलसीदास का उनके विविध भाषा-ज्ञान से आशय समझा जाना चाहिये।

भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों ने खड़ी-बोली गद्य-पद्य में अवश्य लिखा लेकिन खड़ी-बोली में ही लिखना चाहिए, आग्रह बनकर उनके द्वारा विचार या दृष्टि-कोण सामने नहीं आया। आचार्य द्विवेदी खड़ी-बोली में भारतेन्दु के समान व गद्य व पद्य में परिमाण की दृष्टि से लिख सके 'लेकिन सरस्वती' के माध्यम से खड़ी-बोली के आग्रह को आन्दोलन का रूप दिया।[1] भारतेन्दु खड़ी-बोली के संस्थापक कहे जायँगे तो आचार्य द्विवेदी उसके निर्माता, प्रचारक, स्वरूपदाता कहे जायँगे।

आचार्य द्विवेदी सन् १६०३ में 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। सन् १६०३ में समकालीन प्रवृत्ति में उथला साहित्य सर्जित हो रहा था। यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य द्विवेदी ऐयारी, तिलस्मी, डाकेजनी, जासूसी उपन्यासों के

1—**महावीरप्रसाद द्विवेदी के कृतित्व से अधिक महिमामय उनका व्यक्तित्व है। उस युग का बड़ा से बड़ा साहित्यकार आपके 'प्रसाद' की कामना करता था। (हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४१३)।**

प्रवृत्ति में खड़ी बोली के स्वरूप का निश्चय ही आभास पाकर उसके भविष्य की उज्ज्वलता की रूप-कल्पना करने में समर्थ हुए होंगे। उक्त औपन्यासिक प्रवृत्ति में खड़ी-बोली-गद्य में पर्याप्त अभिव्यंजनामूलक परिष्कार हो चुका था, फलस्वरूप बहुतेरे मौलवी हिन्दी पढ़ने व सीखने के लिए विवश हुए। यह सोचने की बात है कि आचार्य द्विवेदी उक्त औपन्यासिकों के सम्मुख सन् १९०३ में क्या कोई स्थान रखते थे ? नहीं। आचार्य द्विवेदी की मान्यताएँ, दृष्टिकोण स्थिर अवश्य हो चुके रहे होंगे।

सम्पादक के रूप में उनके (द्विवेदी जी के) व्यक्तित्व के बारे में बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का कथन है कि अठारह वर्ष तक 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने साहित्य और शिक्षा, पुरातत्व और इतिहास, अर्थशास्त्र और विज्ञान, राजनीति और समाजतत्व के ज्ञान सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर दिये। 'सरस्वती' के पाठकों के लिये आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कोई विषय नया नहीं है।[1] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने गद्य-भाषा को विषय-वस्तु की दृष्टि से सम्पन्न बनाया। आचार्य द्विवेदी जी से पूर्व-गद्य-भाषा का जो भी उपयोग हुआ उसका मात्र साहित्यिक मूल्य प्रधान था। भाषा का उपयोग चतुर्दिक रूप से हो, इसके बारे में किसी का भी ध्यान नहीं गया था। इसी प्रकार पद्य को भी अत्यधिक सूचनात्मक एवं आदर्शोन्मुख बनाने के उद्देश्य से इतिहास-पुराण के वृत्तों अथवा सामाजिक आदर्श प्रधान काल्पनिक कथाओं को आचार्य द्विवेदी ने प्रश्रय दिया ताकि युग-समाज व समकालीन वातावरण जाग्रत हो सके। गद्य में (जैसा बख्शी जी ने उचित कहा है) हिन्दी-पाठकों के ज्ञान-विस्तार के लिये द्विवेदी जी का जागरूक होना समसामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये आवश्यक था। 'सरस्वती' का सम्पादकत्व इसी दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व रखता है कि उसमें विश्व के समस्त ज्ञान-विज्ञान की विस्तृत जानकारी का ध्यान रखा गया तथा विषय की दृष्टि से अर्थशास्त्र, यात्रा-विवरण, चिकित्सा शास्त्र, महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ, आधुनिक आविष्कार व सूचनाएँ आदि बहुत सी बातों को वर्ण-

---

1—'महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसमें प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य-विधा को व्याकरण और भाषा की दृष्टि से संतुलित किया और काव्य तथा गद्य में इतिहासात्मकता को प्रश्रय दिया। उनके द्वाराकई साहित्यकारों को प्रोत्साहन मिला। द्विवेदी-युग का इसमें पूरा लेखा-जोखा है।'
—डॉ० हरदेव बाहरी, हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ५८५।

नात्मक व चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता रहा। यह दृष्टव्य है कि आचार्य द्विवेदी विशुद्ध साहित्य से सम्बन्धित विषयों के लिखने वालों के ही प्रेरणास्रोत नहीं बने थे बल्कि एक ऐसा भी वर्ग उनकी अनुप्रेरणा स्वीकार कर चुका था जिसे उस समय हिन्दी में लेखन व्यवसाय सम्पन्न करने की आवश्यकता नहीं थी। यह वर्ग आज भी द्विवेदी-युग के अध्येताओं द्वारा उपेक्षित है। यह वर्ग था—अर्थशास्त्र व ग्राम-शास्त्र जैसे विषय को हिन्दी में प्रस्तुतकर्ता पंडित दयाशंकर दुबे, नागरिकशास्त्र के हिन्दी में प्रस्तुतकर्त्ता—श्री भगवानदास केला, विज्ञान के प्रस्तुतकर्ता-डॉ० सत्यप्रकाश, श्री गोपालस्वरूप भार्गव, पुरातत्व विषय के प्रस्तुतकर्ता—डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल, इतिहास विषय के प्रस्तुतकर्ता—ईश्वरीप्रसाद और डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी। ये सभी अपने विषयों के ज्ञाता आचार्य द्विवेदी के प्रोत्साहन के परिणाम थे। उक्त विद्वान 'सरस्वती' में बराबर लिखा करते थे और हिन्दी-भाषा के वस्तु, विषय, ज्ञान के क्षेत्र के विस्तार में सहायक सिद्ध हुए। साहित्यिक दृष्टि से द्विवेदी जी एवं उनके युग का जो महत्व है, वह अलग ही है लेकिन उक्त लोगों की उपेक्षा करके वस्तुतः द्विवेदी-युग का अध्ययन करना अधूरा ही माना जाना चाहिए। इसी प्रकार द्विवेदी जी विदेशी ज्ञान का हिन्दी अनुवाद संक्षिप्त सार रूप में लिखाया करते थे।

आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व के साहित्यिक पक्ष का भी अध्ययन आवश्यक होगा। उनके गद्य-कार्य में अनुवाद और मौलिक दोनों सम्मिलित हैं। अनुवादों की संख्या ५० है।[1] द्विवेदी जी ने अँग्रेजी, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से पर्याप्त साहित्य का हिन्दी अनुवाद कार्य सम्पादित करके अनुवाद-क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से पथ-निर्देश किया। भारतेन्दु ने स्वयं तथा उनके समकालीन लेखकों ने भी पर्याप्त अनुवाद-कार्य सम्पन्न किया था लेकिन भाषा-स्वरूप निर्धारण के साथ भाव विचारों के पूर्ण सन्दर्भों के औचित्य को सर्वप्रथम आचार्य द्विवेदी ने ही

1—**गद्य:** (अनूदित) **भामिनी-विलास** (१८९१), **अमृत-लहरी** (१८९६) **बेकन विचार रत्नावली** (१९०१) **शिक्षा** (स्पेंसर कृत 'एजूकेशन' का अनुवाद), **स्वाधीनता** (जान स्टुअर्ट कृत 'आन लिबर्टी' का अनुवाद) **हिन्दी महाभारत, रघुवंश** (भाषानुवाद), **कुमार संभव, वेणी-संहार, मेघदूत** (मौलिक) : **हिन्दी शिक्षावली तृतीय की समालोचना, नैषध चरित चर्चा, हिन्दी कालिदास की समालोचना, नाट्यशास्त्र, हिन्दी भाषा की उत्पत्ति,**

क्रमशः—

सामने रखा था । अतएव हिन्दी में अनुवाद-कार्य को एक नयी व्यवस्था मिल सकी ।

आचार्य द्विवेदी विशुद्धतः लोकसंग्रहमूलक प्रवृत्ति में आस्था रखते थे । उनकी आलोचना में इसीलिए नैतिकता, चारित्रिकता, आदर्शवादिता का आग्रह रहता था । यही कारण है कि वे अपनी आलोचना को 'दण्ड' रूप देकर 'स्वच्छन्द' होने वालों पर अंकुश रखते थे । छायावादी काव्य-सृजन की नयी प्रवृत्ति के आगमन के अवसर पर आचार्य द्विवेदी ने 'सुकविकिंकर' छद्मनाम से प्रबल विरोध किया था । वास्तव में वे भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में जीवन-दर्शन की व्यापकता में विश्वास रखते थे। आचार्य द्विवेदी से अनुप्रेरित होकर हिन्दी-काव्य-जगत में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पंडित रामचरित उपाध्याय, ठाकुर गोपालशरण सिंह, पंडित नाथूराम शंकर शर्मा, जयशंकर प्रसाद (देखिए-'महाराणा प्रताप का महत्व'), गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (देखिए-रसालवन-१९२१), सुखराम चौबे गुणाकर आदि ने स्थूलपरक, इतिवृत्त मूलक, अभिधात्मक एवं उपदेशात्मक काव्य-लेखन सांस्कृतिक परम्परा के मूल्य-वृद्धि हेतु किया । अधिकांश कवियों में देव-तुल्य स्तुत्य-भाव द्विवेदी जी के प्रति था ।

आचार्य द्विवेदी ने पद्य-धारा के स्वच्छ प्रवाह पर जितना ही ध्यान दिया, उतना ही ध्यान गद्य की विधाओं के विस्तार की ओर भी समालोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य शुक्ल, पदुमलाल बक्शी, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र, प्रभृत आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित हुए । जिस काव्य-दर्शन को आलोचना व आलोच्य में आचार्य द्विवेदी लोक-संग्रह मूलकभाव के सन्दर्भ में चाहते थे, उसे ही आचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान किया । भले ही आचार्य की अनुदृष्टि में आलोचना कार्य व्यवस्थित स्वरूप पाकर 'आदर्श' बन गया हो लेकिन उनके सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में काव्यगत मान्यताएँ द्विवेदी जी व उनकी युगीन प्रवृत्ति की ही देन हैं और शुक्ल जी उक्त प्रवृत्ति के व्याख्याता तथा स्थापक हैं । इसी प्रकार कथा-साहित्य में जिस आदर्श को प्रेमचन्द ने लोक

क्रमशः—पूर्व पृष्ठ का शेष—

कालिदास की निरंकुशता, कालिदास और उनकी कविता, साहित्य-सन्दर्भ, आध्यात्मिक, साहित्यालय—रा० चं० ति०, हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० ४१२ ।

हित-चिन्तना के परिप्रेक्ष्य में जीवन-दर्शन की व्याख्या का स्वरूप दिया वह आचार्य द्विवेदी जी की मान्यता में भिन्न नहीं था। स्वयं प्रसाद जी द्विवेदी जी व उनके युगीन आदर्शवाद व लोक-संग्रह से अत्यधिक आतंकित व प्रभावित थे। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन-लाल वर्मा आदि द्विवेदी जी की मान्य प्रवृत्ति के अनुसरण पर चलकर स्थापित हुए। द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत निबंधों की पर्याप्त संख्या है जो आलोचना प्रधान होने के साथ अन्य विषय-पूरक भी है। उन्होंने मानव-वृत्ति प्रधान क्रोध, लोक आदि जैसे निबन्ध लिखे तथा साहित्य-सिद्धान्तों पर एवं उसके परिप्रेक्ष्य में व्यावहारिक निबन्ध भी लिखे। कहना अनुचित न होगा कि विषय के निर्वाचन के लिये आचार्य शुक्ल आचार्य द्विवेदी के ऋणी हैं।

भारतीय रसवादी परम्परा के आलोचक के रूप में आचार्य द्विवेदी प्रतिष्ठित होंगे, और उनकी उक्त मान्यताओं को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। आचार्य द्विवेदी ने काव्य को रीतिकालीन प्रवृत्ति से मुक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से व्रज-काव्य लेखन परम्परा को प्रोत्साहित नहीं किया, एक कारण और भी था कि काव्य को समाज के लौकिक विचार-दर्शनों से सम्पन्न बनाने से राष्ट्रीय भावना की पुष्टि होने में सहायता मिलना सम्भव था।

आचार्य द्विवेदी खड़ी-बोली को संस्कार तथा अभिव्यक्ति देने में सर्वप्रथम सजग हुए, भाषा शुद्ध एवं परिष्कृत हो, इसका आग्रह लेकर ही वे नवयुवकों की प्रेरणा के स्रोत बने। पापिनी से पूर्व भी संस्कृत में ललित साहित्य लिखा जाता रहा है लेकिन उनके माध्यम से जो व्याकरण तैयार हुआ और संस्कृत भाषा को व्याकरण के निश्चित नियमों में आबद्ध किया गया; यह संस्कृत में अवि-स्मरणीय कार्य जैसा महत्व रखता है, वैसा ही हिन्दी-भाषा के अन्तर्गत खड़ी-बोली को आचार्य द्विवेदी ने महत्व प्रदान किया। आचार्य द्विवेदी को खड़ी-बोली हिन्दी का पाणिनी कहा जाना अनुचित न होगा।[1] द्विवेदी जी ने गद्य-भाषा में अभिव्यक्ति को नया संस्कार दिया। विराम-चिह्नों के प्रयोग की ओर द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया।

1—महाप्रदीपैधिषणा प्रकाशैः
वीर किया चाप्युपलक्षितो यम्।
प्रसाद लक्ष्मी दधदात्मनिष्ठो
द्विवेदि वपयो ज्यताच्चिराय॥
—ज्वालादत्त शर्मा, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रस्तुत 'श्रद्धांजलि।'

द्विवेदी जी का ध्यान सभी दिशाओं की ओर गया जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भारतेन्दु-युग में प्रस्तुत प्रवर्तित गद्य की अनेक विधाएँ क्रमशः द्विवेदी जी एवं उनके युग में पुष्पित एवं पल्लवित होने लगीं। समालोचना, उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक, जीवनी आदि सभी का उत्तरोत्तर विकास हुआ। काव्य के क्षेत्र में खड़ी-बोली के माध्यम से हरिऔध कृत प्रियप्रवास, मैथिलीशरण गुप्त[1] कृत-साकेत, पंडित रामचरित उपाध्याय कृत—रामचरित चिन्तामणि का प्रकाशन द्विवेदी जी के सम्पूर्ण लक्ष्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुए। पंडित रामनरेश त्रिपाठी कृत 'पथिक', मिलन, स्वप्न; नाथूराम शंकर शर्मा कृत—'शंकर सरोज, अनुराग रत्न; श्रीधर पाठक (जिन्होंने स्वच्छन्दतावाद की एक नयी धारा को प्रवर्तित किया) कृत 'श्री गोखले प्रशस्ति', 'भारत गीत', 'आराध्य-शोकांजलि; प्रसाद जी कृत—'महाराणा प्रताप का महत्व'; गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' 'कृत' 'रसालवन'[2] जैसे काव्य का सृजन द्विवेदी जी के अभिप्रेत उद्देश्य को सार्थक करने में समर्थ हुए। परिणाम-स्वरूप द्विवेदी जी मात्र स्वयं में सीमित न रहकर योग-बोधक व्यक्तित्व बन गये। गद्य के क्षेत्र में निबन्ध लेखन-कार्य को बाबू बालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र (सम्पादक—सुदर्शन), सरदार पूर्णसिंह, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दर दास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री प्रभृत लोगों ने पर्याप्त रूप से सम्पन्न किया, परिणामस्वरूप भावात्मक, विचारात्मक, गवेषणात्मक, वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक शैलियों में सामाजिक, राजनीतिक, आलोचनात्मक, धार्मिक, वैचारिक निबन्ध लिखे गये। उक्त निबन्धकार द्विवेदी-युग के निबन्धकार माने जाते हैं क्योंकि आचार्य द्विवेदी द्वारा अनुप्रेरित विषय और वस्तु को ही वस्तुतः उक्त निबन्धकारों ने स्वीकार किया था।

उपन्यास एवं कहानी-क्षेत्र में देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गहमरी, लज्जाराम मेहता, व्रजनन्दन सहाय आदि को द्विवेदी युग के अन्तर्गत स्वीकार करने का तात्पर्य आचार्य द्विवेदी की प्रवृत्ति के ठीक विपरीत प्रवृत्ति

1—मेरी उल्टी-सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी महाराज का ही काम था। —मैथिलीशरण गुप्त, 'धर्मयुग।'

2—हिन्दी भाषा एवं साहित्य का विकास, पृ० ५८६।

को घालमेल करके स्वीकार करना, माना जायगा। अतएव प्रेमचन्द, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन आदि उपन्यास-कहानी क्षेत्र में द्विवेदीयुगीन प्रवृत्ति के पोषक रचनाकार हैं।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने (जो द्विवेदी जी के सम्पादन-समय के पश्चात् सरस्वती-सम्पादक हुए) अपने विचार, मूल्यांकन करते हुये, प्रस्तुत किया है—'द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य में केवल ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करके ही नहीं रुक गये, उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिन्दी-साहित्य के मन्दिर को कलुषित होने से बचाया, उन्होंने हिन्दी-साहित्य को सदा उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की। क्या भाषा और क्या भाव कहीं भी उन्होंने विकार नहीं आने दिया। जहाँ उन्होंने भाषा या भाव सम्बन्धी कालुष्य देखा, वहीं उसका विरोध किया, फिर चाहे उसका प्रवर्तक कितना ही बड़ा साहित्यसेवी या विद्वान क्यों न हो। असत्य का उन्होंने सदा मूलोच्छेद ही किया, साहित्य में सस्ती कीर्ति लुटाने वालों के लिए उन्होंने जगह ही नहीं रखी इसलिए उनके सम्पादन-काल में समस्त हिन्दी साहित्य पर आतंक-सा छाया हुआ था। लेखक भी सावधान थे, और प्रकाशक भी सावधान थे। सभी अपने मन में यह बात समझते थे कि हिन्दी-साहित्य पर किसी निरीक्षण की दृष्टि लगी हुई थी, जो किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। द्विवेदी जी के इस प्रभाव के कारण हिन्दी-साहित्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहा।'

आचार्य द्विवेदी की प्रवृत्ति एवं परम्परा की दृष्टि के अनुसार उपर्युक्त विश्लेषण कर हम यह भी कह सकते हैं कि आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रवर्तित साहित्य-धारा आज भी प्रवहसान है। आचार्य द्विवेदी ने वस्तुतः विधाओं का स्वरूप-बोध एवं उसकी वास्तविकता का दिग्दर्शन लेखकों को कराया और अपनी स्थापित मान्यताओं की व्यावहारिकता के लिये लेखक तैयार किये। उन्होंने खड़ी-बोली के माध्यम से राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण किया। आचार्य द्विवेदी के समर्थन एवं विरोध के दोनों स्वर भी मुखर हुए हैं। आचार्य द्विवेदी के स्वभावगत सैद्धान्तिक आग्रह पर स्थिर होने के कारण ही उनके समकालीन[1]

1—'जिस ध्येय को लेकर वे हिन्दी के मैदान में उतरे, उसमें सफलता पाने के लिये कुछ पांडित्य, कुछ अभिमान और कुछ अहंमन्यता का सम्मिश्रण आवश्यक था। वे हिन्दी साहित्य को कोई स्थायी देन न दे सके।'—श्यामसुन्दरदास, सम्मेलन पत्रिका भाग ४९, संख्या ३-४, पृ० १६२। 'द्विवेदी जी के लेखों के पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठक के लिये लिख रहा है'। —रामचन्द्र शुक्ल, वही।

लोगों ने एवं उनके सम्मुख आने वाली पीढ़ी[1] ने विद्रोही स्वर को मुखर किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आचार्य द्विवेदी के प्रति आज के साहित्यकार श्रद्धावनत नहीं हैं।[2]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना : एक मूल्यांकन

द्विवेदी जी के सम्पादन-काल की उपलब्धियों का विवेचन कर चुका हूँ। द्विवेदी जी ने निश्चय ही अपने युग-दर्शन की सही पहिचान रखकर ही खड़ी-बोली के साहित्य को राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बद्ध किया। यह उनकी साहित्यिक मनीषा का प्रतिफल नहीं था बल्कि उनकी पत्रकारिता का ही एक श्रेष्ठ परिणाम है। यह सिद्ध होता है कि एक श्रेष्ठ पत्रकार व सम्पादक अपने युग-प्रवृत्ति की चेतना, प्रवाह व गति को समझने की अन्तर्दृष्टि रखता है। यही कारण है कि उनके द्वारा वे ही सरस्वती में प्रोत्साहित हुए जो लोक मानस को प्रभावित करने वाली रचनाएँ लिखते थे। इसीलिए लोक मानस के सामाजिक मूल्य 'इतिवृत्त' के सन्दर्भ में ऐसे रचनाकार अधिक से अधिक प्रगट हुए। काव्य में मुक्तक के स्थान पर खण्ड काव्य एवं प्रबन्ध काव्य ही नहीं लिखे गये बल्कि कैन्वास की खोज होने लगी, कहानी के साथ बड़े उपन्यास लिखे जाने लगे, अनेक अंकों में बड़े नाटक भी लिखे जाने लगे।

श्रेष्ठ सम्पादक व पत्रकार कभी-कभी दिशा-बोध देने के लिए आलोचना भी लिख (या कर) बैठे तो आश्चर्य नहीं। द्विवेदी जी के लिए यही बात लागू होती है। द्विवेदी जी की अधिकांश आलोचना संस्कृत के प्राचीन कवियों व नाट्यकारों पर ही लिखी गयी हैं। कालिदास की आलोचना, नैषधीय चरितम् की आलोचना, कालिदास की निरंकुशता, विक्रमांक देव चरित चर्चा आदि द्वारा हिन्दी-आलोचना का उतना लाभ नहीं हुआ जितना एक युग-बोधक व्यक्तित्व से आशा थी। विक्रमांक देव तथा श्री हर्ष साहित्यिक जीवनी

1—सो जाओ हे वृद्ध विकल,
इस प्रचंड अंधड़ के सम्मुख
ग्रीष्म काल का वायु विफल। —गुलाबरत्न वाजपेयी

2—साहित्य में प्राय: ऐसा नहीं होता कि एक व्यक्ति के नाम पर साहित्य के युग का नाम चल जाए, पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग का नामकरण भारतीय श्रद्धा का परिणाम है। अगर ये विलक्षण व्यक्तित्व (भारतेन्दु और द्विवेदी) नहीं होते तो पता नहीं—हिन्दी का क्या रूप होता। द्विवेदीयुगीन साहित्य में गृहस्थ की बात है। इसकी तरंगें कम हैं, उन्माद कम है, पवित्रता और स्वास्थ्य की भावना की प्रधानता।

(Literary Biography) है। इसमें द्विवेदी जी कृति के मूल-संदर्भों में प्रविष्ट होकर कृतिकार के जीवन-पक्षों का विवेचन करते हैं। द्विवेदी जी की साहित्यिक मान्यताएँ अवश्य ही स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर हैं किन्तु उनका महत्त्व व्याकरण, रस के अनौचित्य, यति भंग, अधिक पदच्य, ग्राम-भाव-व्यंजना तक ही सीमित है। उन्होंने अपने युग के समकालीन लेखकों पर भी लिखा—जैसे-पण्डित कृष्णकान्त मालवीय कृत 'सोहागरात' नामक पुस्तक की आलोचना की नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा दिये गये अपने सम्मान के अवसर पर यह आलोचना भी प्रथम पुरुष में की और आलोच्य का नामोल्लेख तक नहीं किया। तत्सम्बन्ध में गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कथन उल्लेखनीय है।—फिर यह स्वीकार करना होगा कि द्विवेदी जी के आलोचना-विषयक आदर्शों में एक बहुत बड़ी कसर थी; यही नहीं कहा सकता कि वे सर्वथा निरपेक्ष भाव से ही आलोचना करते थे। उदाहरण के लिये उनकी 'हिन्दी कालिदास' नामक आचलोचना-पुस्तक सद्भावों की प्रेरणा से नहीं लिखी गई। लाला सीताराम बी० ए० ने कालिदास के नाटकों के हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किये थे, इन्हीं अनुवादों के प्रयत्नों के एक मात्र दोष-दर्शन के उद्देश्य से द्विवेदी जी ने उक्त पुस्तक लिखी थी। साधारण समालोचनाओं की अपेक्षा तीक्ष्णतर प्रभाव उत्पन्न करने वाले भाव-प्रधान व्यंगात्मक निबन्ध लिखने की क्षमता भी उनमें पर्याप्त मात्रा में थी। प्रयाग के द्विवेदी-मेला में लाला सीताराम के प्रति जो संकेत उन्होंने अपने भाषण में प्रस्तुत किये तथा काशी-नागरी प्रचारिणी सभा का अभिनन्दन स्वीकार करने के अवसर पर भी पंडित कृष्णकान्त मालवीय कृत 'सोहागरात' नामक पुस्तक के प्रति जिस प्रकार के लक्ष्य उनके द्वारा किये गये, उससे कम-से-कम यह बात तो झलकती है। कि वे अपने विरोधियों को प्रायः क्षमा नहीं करते। साथ ही अपने अनुयायियों की प्रशंसा करने में भी उनकी लेखनी पीछे नहीं रही। इन सब बातों पर विचार करके यह कहना पड़ता है कि द्विवेदी जी के प्रयत्नों से शक्ति-संग्रह करके भी हिन्दी आलोचना सबल और स्वस्थ आधार पर खड़ी नहीं हो सकी।'

हिन्दी नव-रत्न पर भी उन्होंने कुछ लिखा। द्विवेदी जी को छायावादी कवियों से भय था इस कारण छद्म-नाम 'सुकवि किंकर' के नाम से, उनकी प्रखर आलोचना की। स्पष्ट है कि आलोचना के लिए साहस की आवश्यकता होती है, आचार्य द्विवेदी में उसका सर्वथा अभाव था। फुटकर निबंधों के रूप में (अधिक सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी हैं) द्विवेदी जी ने आलोचना के नाम पर स्फुट रूप में 'नायिका-भेद का पुरस्कार', 'समालोचना का सत्कार' आदि लिखे।

इसी प्रकार सैद्धांतिक आलोचना के नाम पर कविता,क वि और कविता, नायिका-भेद आदि लिखा। यहाँ यह भी कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदी जी की आलोचना-प्रकृति मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, हनुमानप्रसाद पोद्दार की कोटि की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ही द्विवेदी जी के समकालीन लेखकों की युग-चेतना को लोक-संग्रह से सम्बन्ध कर अपने प्रतिमान स्थिर किये। आचार्य शुक्ल ने भक्तिकालीन कवियों को अपना आलोच्य इसलिये भी स्वीकार किया ताकि उनके लोक-संग्रह के सिद्धान्तों को पुष्टि एवं ऐतिहासिक आधार मिल सके। अतएव द्विवेदी जी के समकालीन लेखकों के समय की युग-प्रवृत्ति को आलोचना में प्रधानता मिलने के कारण उक्त युग—रामचन्द्र शुक्ल युग है। इस शुक्ल-युग के आलोचकों में श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय, पदुमलाल मुन्नालाल बख्शी आदि के नाम होंगे। इनकी चर्चा व पुष्टि आगे के पृष्ठों में की जायगी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन आलोचक और उनकी आलोचना (१६०० से १६३०)

महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल में खड़ी बोली आधुनिक हिन्दी के बहुमुखीन विकास की एक व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी को युग-बोधक व्यक्तित्व के रूप में सिद्धान्तों ने उन्हें सम्मान इसलिए भी प्रदान किया कि वे खड़ी-बोली के आन्दोलन के अग्रदूत बनकर लेखकों के सम्मुख प्रकट हुए। द्विवेदी जी में मौलिक सृजन की प्रतिभा नहीं थी। उसमें संकलन, सम्पादन, संगठन की प्रतिभा अधिक थी। यही कारण है कि द्विवेदी जी ने मात्र काव्य के क्षेत्र में अग्रणी बाबू मैथिलीशरण गुप्त को अधिक प्रश्रय दे सके और वहीं बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध को कम। हरिऔध जी ने ही 'प्रियप्रवास' जैसा प्रथम खड़ी-बोली का महाकाव्य प्रस्तुत किया था। द्विवेदी जी के समकालीन आलोचकों में समय व काल की दृष्टि से मिश्र-बन्धु, श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कृष्ण बिहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यहाँ यह कथन भी अधिक उचित होगा कि हिन्दी के मान्य विद्वान व इतिहासकार मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र आदि को यदि निर्णयात्मक समीक्षक मानते हैं, अनुचित है। द्विवेदी जी जिस लोकवादी, लोकरंजक मूल्यों को इतिवृत्त-संदर्भ में लेकर गतिशील हुए, वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा ही प्रतिपादित हुआ, यद्यपि आचार्य शुक्ल की द्विवेदी जी की आलोचनात्मक प्रतिभा के सम्बन्ध बहुत ही साधारण विचार-धारणा थी। यह भी उल्लेखनीय है कि मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी

मिश्र, लाला भगवानदीन अपने समसामयिक राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामाजिक चेतना को आत्मसात् नहीं कर सके थे, यही कारण है कि उक्त आलोचकों का आलोच्य विषय रीतिकालीन कवि व उनके काव्य तक सीमित रहा। यहीं हम देखते हैं कि विचार-विभिन्नता के बावजूद आचार्य शुक्ल ने आलोचना में जो प्रतिमान स्थिर किये, वे द्विवेदी जी के युग-संदर्भ की चेतना को ही व्यक्त करते हैं। मेरी स्पष्ट धारणा है कि उक्त आलोचकों की रीतिकालीन आलोचना-परम्परा को गतिशील बनाने में, आगे चलकर श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव कीकाव्य कला' तथा इसी प्रकार श्री विश्वनाथ मिश्र ने' बिहारी वाङ्मय' में अत्यन्त साधारण कार्य किया। अनेक आलोचक (श्री भगवत्स्वरूप मिश्र, डा० वेंकट शर्मा) श्री कृष्णशंकर शुक्ल एवं श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को शुक्ल-पद्धति का आलोचक मानते हैं, तर्क-संगत नहीं है।

मैं श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को श्री द्विवेदी जी से प्रभावित आलोचक नहीं मानता। उनके सरस्वती सम्पादन-काल (१९२२ से १९२७) से स्वच्छंदता-वादी काव्य का उन्नयन होता है। उनकी आलोचना द्विवेदी जी के समकालीन आलोचकों से सर्वथा भिन्न है।

हिन्दी-आलोचना के आरंभिक विकास में मिश्रबन्धुओं का अभूतपूर्व योगदान रहा है। श्री गणेशबिहारी मिश्र एवं राजा डॉ० श्यामबिहारी मिश्र, राय बहादुर शुकदेव बिहारी मिश्र, तीन बन्धुओं को साहित्य में 'मिश्रबन्धु' नाम से जाना जाता है। सन् १९०९ में प्रकाशित 'हन्दी नवरत्न'[1] मिश्रबन्धु का समालोचना-ग्रन्थ है। मिश्रबन्धु का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है—'मिश्रबन्धु-विनोद'। यह साहित्येतिहास का ग्रन्थ है जिसके सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि यह वृत्तमूलक ग्रन्थ है, साहित्येतिहास नहीं। मिश्रबन्धु ने ४५०० कवियों का काल-क्रम-बद्ध काव्य-संकलन और परिचय-संकलन तैयार किया।

श्री नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में—'मिश्रबन्धुओं की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख नाम-मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई विशेष परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुए मिश्रबन्धु रीति-काव्य का मोह न त्याग सके,

---

1—'हिन्दी नवरत्न' में १—तुलसीदास, (२) सूरदास, (३) देवदत्त, (४) बिहारीलाल, (५) त्रिपाठी बन्धु—भूषण व मतिराम, (६) केशवदास, (७) कबीरदास, (८) चन्दबरदाई, (९) हरिश्चंद्र को स्थान दिया गया।

न उन्होंने काव्य के भाव-पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा। रीति-काव्य और रीति ग्रन्थों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा।[1] निर्णयात्मक समालोचना का वह रूप जिसमें भिन्न-भिन्न कवियों को अंक देकर बड़ा-छोटा सिद्ध करने का निरंकुश निर्णय लिया जाता है, मिश्रबन्धुओं के मिश्रबन्धु विनोद में दिखायी पड़ा।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्रबन्धु को आलोचक के रूप में स्वीकार नहीं किया है। कुछ लोगों का कथन है कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास सामग्री का संचयन मिश्रबन्धु-विनोद से ही किया है। यह सत्य है, किन्तु मिश्रबन्धु ने शिवसिंह सरोज से सामग्री ली होगी, यह कहना और खण्डन करना औचित्यपूर्ण नहीं है। यह मानने में क्या हर्ज है कि मिश्रबन्धु 'कविवृत्तकार' थे। शुक्ल जी के ऋणी होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि प्रत्येक इतिहासकार अपने युग के पूर्व तक की प्राप्त सामग्री का उपयोग तो करता ही है। आज तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास का अनुकरण होता आ रहा है।

मिश्रबन्धु के पास आलोचना-दृष्टि थी ही नहीं। यही सही है। आज के वर्तमान शोधकर्त्ता जैसे चार पुस्तकों को सामने रखकर पांचवीं पुस्तक थीसिस के रूप में लिख मारते हैं, और उसे 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' कह देते हैं, बस वही आरम्भिक स्थिति में मिश्रबन्धु का भी उसी प्रकार उपयोग हुआ था। मिश्रबन्धु प्रशंसा-भाव मुखर करने में 'वाह-वाह' करते हैं या दाद देते हुए गद्गद हो उठते हैं। जैसे 'इस छन्द में क्या ही बढ़िया भाव, कितने कम शब्दों में व्यक्त किया गया है।' ······इसमें क्या ही उत्कृष्ट भाव हैं। मिश्रबन्धु को रसवादी समालोचक कहा गया है। उनमें प्रधान अभाव था कि वे कृतियों के मूल्यांकन में युग-बोध व परिवेश-सन्दर्भों की पृष्ठभूमि लेकर गतिशील नहीं हुए। कहीं-कहीं मिश्रबन्धु अपने आलोच्य के भावोद्घाटन में भी तन्मयता प्रकट करते हैं। लेकिन उनकी साहित्य-रसिकता पर संदेह न होकर उनके आलोचक होने के लिए निश्चय ही यह धारणा बनती है कि उनमें आलोचना की भावना नहीं थी। निस्सन्देह भविष्य की आलोचना के लिए उनके द्वारा प्रदत्त सामग्री उनके शोध-कार्य के प्रति अधिक आस्था उत्पन्न करता है।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की सतसई 'बिहारी संजीवन पाठ्य' में तथा कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखा। देव और बिहारी की

1—**आधुनिक साहित्य—नंददुलारे बाजपेयी, पृ० २७५-७६।**

2—**समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०६।**

श्रेष्ठता सम्पादन में तुलनात्मक समीक्षा एवं निर्णयात्मक समीक्षा पद्धति का विकास हुआ। शर्मा जी की शैली में मनोरंजकता, चटपटापन है। किन्तु उनकी उर्दू की शेरो-शायरी का प्रभाव आलोचना का विकास नहीं करा पाती। ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना को महत्ता अवश्य मिली किन्तु देव और बिहारी सम्बन्धी विवाद से युग-सापेक्ष्य-मूल्यों का उद्‌घाटन नहीं हो सका। इसी प्रकार लाला भगवानदीन ने भी केशवदास कृत रामचन्द्रिका की टीका लिखी।

आलोचना युगीन-मूल्यों के प्रभाव को आत्मसात् करता है किन्तु उक्त आलोचकों ने कालिदास, भवभूति से लेकर रीतिकाल तक और विशेषकर रीतिकालीन कवियों को ही अपना आलोच्य विषय माना जो उनके कोई अपनें समसामयिक युगीन मूल्यों की उपेक्षा करता है।

प्रेमचन्दपूर्व हिन्दी उपन्यास एक इतिहासपरक अध्ययन

आधुनिकता की बोध दिशाएँ नवीन रूप में सन् १९४९ से उपलब्ध होती हैं, इसलिए सन् १८०० से सन् १९४७ के समय को खड़ी-बोली के विकास संदर्भ में रख कर देना चाहिए और सन् १९४७ के बाद 'आधुनिक काल' का कहना उचित होगा। यहाँ उपन्यास का ऐतिहासिक क्रम विकास करना मेरा अभीष्ट है। मेरे अनुसार हिन्दी-उपन्यास का काल विभाजन इस प्रकार है :—
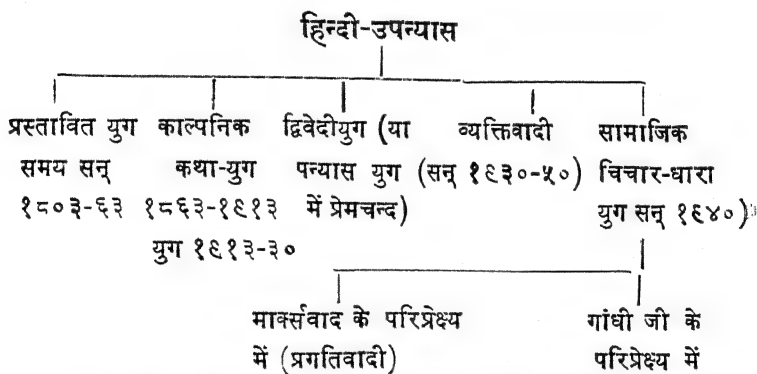
प्रस्तावित-युग (सन् १८०३-६३) साहित्यिक दृष्टि के उपन्यास का आरंभ खोजने पर प्रकाशित किस्सा 'तोता मैना', 'सारंगा-सदाब्रज', 'किस्सा साढ़े चार यार' को नहीं स्वीकार किया जा सकता। लल्लूलाल कृत 'प्रेम-सागर' में डा० लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार 'कृष्ण-चरित्र का पौराणिक दृष्टि से वर्णन है।[1] वस्तुतः उक्त ग्रन्थ की विशेषता गद्य भाषा की दृष्टि से है न कि औपचारिक कथा-विकास की दृष्टि से। लल्लूलाल कृत सिंहासन-बत्तीसी (सन् १८०१), माधवानल रामकन्दला (१८०१), बैताल पचीसी (१८०१)। उक्त

1—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास, पृष्ठ ३५।

सभी ब्रजभाषा की रचनाओं से उपलब्ध स्वतन्त्र सृष्टि है। लल्लूलाल भाषा में कुछ निश्चित सीमाएँ लेकर चले थे। 'प्रेम-सागर' की कथा में अनेक सम्बद्ध कथाएँ सम्मिलित रूप में गतिशील होती हैं।

साहित्यिक दृटि से औपन्यासिक गुणों की विद्यमानता 'रानी केतकी की कहानी में है। कतिपय विद्वान इंशाअल्ला खां कृत इस रचना से ही उपान्यास का आरम्भ मानते हैं। भाषा की दृष्टि से विवेचन पहले किया जा चुका है। इंशा ने गद्य में प्रेम-कथा लिखी है, जिसमें कुतूहल की प्रधानता है और सुन्दर स्थलों पर संश्लिष्ट वर्णन हैं। कथा में एकसूत्रता है, बिखराव नहीं है। कथा सृष्टि में पात्रों का स्वाभाविक विकास किया गया है। वातावरण सर्वथा अनुकूल है। स्थान-स्थान पर मनोरंजन की प्रधानता है। प्रेम संदर्भों की गहराइयों में अपनी मार्मिक दृष्टि से उन्होंने प्रवेश किया है।

'रानी केतकी की कहानी' को पूर्णतः उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उपान्यास में जीवन की दार्शनिक व्याख्या जिस बौद्धिक आधार पर की जाती है, वह इसमें नहीं है। लेकिन हमें गद्य के प्रस्ताविक-युग में यह आशा भी नहीं करनी चाहिये कि 'रानी केतकी की कहानी' को हम उपन्यास-कसौटी की सभी नियमों के अनुसार कस कर देखें और तब कहें कि यह उपन्यास है अथवा नहीं। इसमें संदेह नहीं, यह उपन्यास नहीं, एक लम्बी कहानी है बल्कि इसे एक 'लघु उपन्यास' कहना ही उचित होगा। प्रेम के द्वंद्वमूलक चित्रों को इसमें सुन्दर भावाभि-व्यंजित किया है, यही इंशा की सफलता है।[1] गद्य भाषा स्वरूप निर्माण के निमित्त आवश्यकता की संपूर्ति के वे विधायक बने और इसीलिए उन्होंने किसी विधि के जन्म देने की इच्छा से नहीं बल्कि भाषा के सामान्य गुण विकास के संदर्भ की इच्छा से 'रानी केतकी की कहानी' का सृजन किया। चरित्र-चित्रण, विधान, कथा-वस्तु, भाषा कुतूहल, भावाभिव्यंजना की दृष्टि से यह एक उपन्यास तो नहीं बल्कि 'लघु उपन्यास' है।

---

1. इंशा अल्ला खां रचित 'उदयभान' या 'रानी केतकी की कहानी' की कहानी से हिन्दी उपन्यास-साहित्य का आरम्भ होता है।

—गंगा प्रसाद पाण्डेय

\+ \+ \+

'हिन्दी का पहला औपन्यासिक होने का श्रेय सैयद इंशा अल्ला खां को दिया जा सकता है। उनकी 'रानी केतकी की कहानी' एक छोटा उपन्यास है यद्यपि लेखक ने उसे एक कहानी घोषित कर दिया है।'

शिवनारायण श्रीवास्तव (हिं० उपन्यास)

फोर्ट विलियम कालेज के प्राचार्य डा० गिलक्रिष्ट की प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप पं० सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' का लेखन कार्य संपन्न किया। 'पंडिताऊन' की ब्रज प्रभावित गद्य भाषा में सदल मिश्र ने 'नचिकेत की कथा' (जो संस्कृत में है) से रूपान्तरित किया है। प्रसिद्ध विद्वान डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इस कृति[1] में 'भाषा दृष्टि' से लेखन का मूल्य निर्धारित किया है। इसमें 'रानी केतकी की कहानी' की भांति विशिष्टताएँ नहीं हैं, यद्यपि कथा के प्रस्तुतीकरण में मनोरंजकता, सरसता है। कठोपनिषद् की एक पौराणिक कथा के वर्णन में लल्लूलाल से कहीं अधिक सफलता सदल मिश्र को मिली है। आचार्य शुक्ल ने इसे 'व्यावहारोपयोगी भाषा' प्रधान प्रयत्न मानते हुये 'भाषा साफ सुथरी नहीं है' कहा है।

मुन्शी सदासुखलाल कृत 'सुखसागर' में संस्कृत प्रभावित भाषा है। श्रीमद्-भागवत का अनुवाद मात्र है। अनेक कथा-प्रसंगों का इसमें वर्णन है। सुख-सागर की कथा-प्रवाहिता एक विशिष्ट गुण है। इस प्रकार गद्य-भाषा-निर्माण के उक्त चार प्रस्तावकों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि गद्य-भाषा के स्वरूप को उपस्थित करने के लिए चारों कथाओं, आख्यानों का ही संबल स्वीकार किया। भाषा जन-प्रभावित हो, इसके लिए चारों ने नमूने पेश किये। इसमें कहना अनुचित न होगा कि इंशा अल्ला खां को ही औपन्यासिक दृष्टि ने आंशिक सफलता मिली थी। उपन्यास के इतिहास के प्रस्तुतीकरण के निमित्त इसलिये आरम्भ 'रानी केतकी की कहानी' से स्वीकार करना ही उचित होगा।

भारतेन्दु-युग (सन् १८६३-६३) में उपन्यासों के लेखन के प्रति रुचि बढ़ी। भाषा की दृष्टि से कैसी सामान्य भाषा स्वीकार की जाय ? यह एक प्रश्न था। इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' में 'ठेठ हिन्दी' की व्यवहारिकता सिद्ध की थी और अपने उक्त लघु उपन्यास में 'कल्पना' का अद्भुत संयोग उपस्थित करके 'कुतूहल' को वस्तुरूप में निमज्जित किया था। भारतेन्दु-युग भले ही संस्कृत के तत्सम-प्रभाव से अधिकांशतः आक्रांत रहा हो लेकिन जहाँ तक निबन्ध एवं उपन्यास का प्रश्न है वहाँ इंशा का ही प्रभाव अक्षुण्य रहा। भारतेन्दु-युग अनेक

---

1. इस कथा की विशेषता है कि नीरस और गम्भीर बातें बड़े ही मनो-रंजक रूप में समझाई गई हैं। यह उपाख्यान भाषा की दृष्टि से लिखा गया था न कि मार्मिक दृष्टि से। —आधुनिक हिन्दी-साहित्य।

राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन-संदर्भो का युग रहा है। सन् १८५७ का विद्रोह भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीय-चेतना की पृष्ठभूमि है। 'आर्य-समाज' द्वारा हिन्दू धर्म के संशोधित संस्करण का रूप स्वामी दयानंद के नेतृत्व में प्रस्तुत हो रहा था। भारतेन्दु-युग के संमुख 'ब्रह्मोसमाज' की रूपरेखा बहुत पहले आ चुकी थी। पं० अम्बिकादत्त व्यास एवं श्रद्धाराम जैसे लोगों ने 'सनातन धर्म' को पुनः वैचारिक धरातल पर रखकर आर्य समाज के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने की चेष्टा की। भारतेन्दु-युग में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई, विवेकानंद ने ब्रह्म प्राप्ति विधान को दार्शनिक अभिव्यक्ति दी। ब्लेपैस्की, अलकाट के माध्यम से थियोसैफिकल सोसाइटी का निर्माण हुआ। इस प्रकार भारतेन्दु-युग निश्चित ही राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर पर होने वाले दार्शनिक एवं धार्मिक चिंतन से प्रभावित युग है। विचार एवं चिंतन के बढ़ते हुये प्रभाव में भारतीयों को अपने शोषण, पराधीनता, पिछड़ेपन का अनुभव तो हुआ ही और भावना जाग्रत हुई कि इनसे मुक्ति का विधान क्या हो ? खड़ी बोली ही उक्त युग-तथ्य-संदर्भों के लिये एक मात्र राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार की जा सकने वाली अभिव्यक्ति-संपन्न भाषा का रूप ले सकती थी।[1]

'उपन्यास इसीलिये पश्चिमीय प्रभाव के विकास के संदर्भ में विकसित हुआ। उपन्यास-स्वरूप की धरातल भारतीय नहीं बल्कि पश्चिमीय है।

'उपन्यास' के स्वाभाविक रूप से पनपने का अनुकूल अवसर एवं वातावरण था। धार्मिक स्तर पर खण्डन, ईसाई-धर्म से भयभीत, आर्थिक शोषण से

1—योरोप में उपन्यास का विकास आंतरिक प्रेरणा पर आधारित, सकारण, उचित और स्वाभाविक था, इसके विपरीत हिन्दी में उपन्यास की प्रगति आंतरिक प्रेरणा से उत्तेजित न होकर अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन के परिणाम-स्वरूप बाह्य प्रभावों को स्वीकार करती हुई चली है और वर्तमान समय में भी चल रही है। दूसरे शब्दों में इस बात को यों भी कह सकते हैं कि यदि योरप में उपन्यास अपनी भूमि पर उगा हुआ पौधा है तो भारत में विशेषकर हिन्दी जगत् में वह एक बलभी आरोप है जो सफल भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। संसार में यातायात साधन की वृद्धि प्रभावशाली आंदोलनों का व्यावहारिक सफलता लाभ तथा भारत में मौलिक स्वतंत्र विचारधारा के स्थान में संकुचित पराजित मनोवृत्ति, जो सहज ही तड़क-भड़क से प्रभावित हो जाती है।

पीड़ित, पराधीनता से त्रस्त तथा शासन की दमन नीतियों से आक्रान्त जीवन के लिये अभिव्यक्ति का माध्यम ही हो सकता था। लेकिन यह भी द्रष्टव्य है कि साहित्य में उपन्यास की सर्वथा अनुकूलता के बावजूद शिल्प-ज्ञान बोध के अभाव-वश भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अत्यधिक प्रयत्न किया तो यही कि सन् १८७३ में 'मदालसोपाख्यान' नामक एक पौराणिक कथा लिखी। बंगाल में वस्तुतः संपूर्ण देश की युगीन प्रवृत्तियों में निहित जीवन एवं समाज को रमेशचंद्र दत्त, बंकिम-चंद्र चटर्जी आदि अपने उपन्यास में प्रतिबिम्बित करने लगे थे। उपन्यास शिल्प के विकास की उतनी चेष्टा भारतेन्दु युग में नहीं जितनी चेष्टा अनुवाद की ओर हुई।

हिन्दी उपन्यास का आरंभ एवं प्रथम मौलिक, सृजन[1] के रूप में लाला श्री निवास-दास कृत 'परीक्षागुरु' है। श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी के अनुसार...... इसका प्रथम संस्करण तो नहीं। सं० १९४१ (सन् १८८४) में प्रकाशित दूसरा संस्करण हमारे देखने में आया है।[2] इस उपन्यास में मदन मोहन नामक एक धनिक है जो कुसंग में पड़कर धन नष्ट करके अंत में जेल में सजायाफ्ता हो जाता है। मदनमोहन के अनेक शुभचिंतक मित्र उसे एक निश्चित सुपथ पर लाने की अस-फल चेष्टा करते हैं किन्तु उसमें ब्रजकिशोर भी है जो मदनमोहन को किसी प्रकार यत्न एवं श्रम करके उसे मुक्ति दिलाता है। 'परीक्षागुरु' में औपन्यासिकता है, पात्रों के व्यक्तित्व के अनुकूल संवाद एवं कथोपकथन हैं। भारतीय जीवन के संदर्भों को उपन्यास में रखने के लिये लाला जी प्रयत्नशील हुए। यही कारण है कि भाषा के लिये उन्होंने लिखा है......संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन-कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले (मैंने अपने इस उपन्यास में) दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी है। अलबत्ता जहाँ कुछ विद्या विषय आ गया है वहाँ विवश होकर कुछ संस्कृत आदि

1—उपन्यासों की ओर इनका पहिले ध्यान कम था। इनके अनुरोध तथा उत्साह से पहले-पहल, कादम्बरी और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद हुआ। राधारानी, स्वर्णलता, आदि उन्हीं के अनुराग से अनुवादित हुए। चंद्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश का अनुवाद कराके स्वयं भारतेन्दु जी ने शुद्ध किया था।
—राधाकृष्णदास (हिन्दी उपन्यास साहित्य पृष्ठ १२९ से उद्धृत)।

2 —जवाहर लाल चतुर्वेदी,—हिन्दी के प्रथम मौलिक (प्र० हिन्दी ग्रन्थ कुटीर,)।

(भाषाओं के कुछ शब्द लेने पड़े।[1] लाला श्रीनिवासदास ने अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए आंग्ल भाषा में लिखे गये समर्पण में कहा है।

उक्त संदर्भ में यह स्पष्ट हो जाता है कि लाला जी उपन्यास-लेखन को जीवन के लिए सोद्देश्य मानते हैं। इस उपन्यास में अरबी, फारसी, संस्कृत के तत्सम को अनावश्यक रूप से रखने का उनका आग्रह नहीं परिलक्षित होता बल्कि पात्रों के व्यक्तित्व के अनुकूल ही अंग्रेजी तक के संवाद अनुवाद रूप में प्रस्तुत किये हैं।

आचार्य शुक्ल ने परीक्षागुरु को 'शिक्षाप्रद' कहा है। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के अनुसार कथावस्तु तथा वर्णन दोनों ही की दृष्टि से 'परीक्षागुरु' उस युग की प्रथम रचना है। भारतेन्दु काल की इस प्रारंभिक कृति परीक्षा-गुरु के ही निर्दिष्ट मार्ग का उपन्यास वाङ्मय ने अनुसरण किया। यही उसकी गुरुता है। उपन्यास रूप में परीक्षागुरु द्वारा ही जाना गया। लाला जी ने भारतीय जीवन के परिप्रेक्षय मेंट पाना है कि वैज्ञानिक प्रगति भारत के लिये अत्यंत आवश्यक है अन्यथा दिन पर दिन देश पतोनोन्मुख होगा।[2] पंडित बालकृष्ण भट्ट कृत 'नूतन ब्रह्मचारी' एवं 'सौ अजान एक सजान' भारतेन्दु-युगी

1—परीक्षा गुरु, द्वितीय संस्करण, २५ दिसम्बर सन् १८८४ के समर्पण से हिन्दी के प्रथम सामाजिक उपन्यास के रूप में आचार्य शुक्ल जी ने श्रद्धाराम फुल्लौरी के 'भाग्यवती' का उल्लेख किया है। यह छोटा-सा उपन्यास सन् १८७१ में लिखा गया और कई वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ। हिन्दी के प्रथम उपन्यास होने के कारण नहीं, अपितु उसमें प्रतिपादित विषय के कारण भी इसका विशेष महत्व है। इसमें एक कुलीन आदर्श युवती का जीवन अंकित है, जो अपनी सरलता, प्रेम एवं कर्त्तव्य-निष्ठा के द्वारा धन के मद में फूले ससुराल वालों पर सबल प्रभाव डालती है।

—शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी-उपन्यास, पृष्ठ ६३।

2—जब तक हिन्दुस्तान में और देशों से बढ़कर मनुष्य के लिये वस्त्र और सब तरह के सुख की सामग्री तैयार होती थी, रक्षा के उपाय ठीक-ठीक बन रहे थे, हिन्दुस्तान का वैभव प्रतिदिन बढ़ता जाता था परन्तु जब से हिन्दु-स्तान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई, भाप और बिजली आदि कलों के द्वारा हिन्दुस्तान की अपेक्षा थोड़े खर्च, थोड़ी मेहनत और थोड़े समय में सब काम होने लगा, हिन्दुस्तान की घटती के दिन आ गये, जब तक हिन्दुस्तान इन बातों और बातों और देशों के बराबर उन्नति न करेगा वह घाटा कभी पूरा न होगा।

—लाला श्रीनिवासदास, परीक्षागुरु, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २९

औपन्यासिक कृतियाँ[1] मानी जाती हैं। 'सौ अजान एक सुजान' 'सेटायर' व्यंग्य प्रधान उपदेशात्मक रचना है। श्री दुलारे लाल भार्गव ने इसके कथानक को श्रृंखलित कहा है। नूतन ब्रह्मचारी में चारित्रिक विकास पर बल प्रदान किया गया है। श्री गुलाबराय के अनुसार भट्ट के उपन्यासों में वर्णन को विशेषता और यथार्थता के साथ उस समय की हास्य व्यंग्य की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं।[2] भट्ट जी के उपन्यास अपने आकार में अत्यधिक लघु हैं और अपने चरित्र सृष्टि में भारतीय परम्परा की सदाचारिता को आदर्शवादी स्तर को ये प्रस्तुत करते हैं। डॉ० भगीरथ मिश्र द्वारा संपादित 'निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट' में श्री गोपाल पुरोहित ने भट्ट जी के उपन्यासों में 'आकस्मिकता' का आरोप लगाया है। इस प्रसंग में यह कहना यथेष्ट होगा कि भट्ट जी की युग प्रवृत्ति में उपन्यास शिल्प का कितना विकास हुआ था? वस्तुतः उनके उपन्यास प्रयोग हैं जिनसे उपन्यास को जीवन व गति प्राप्ति हुई। हम आज के विकसित मानों के अनुसार न देखें यदि देखें तो प्रसाद जी के 'कंकाल' की आकस्मिकता को सर्वप्रथम अक्षम्य घोषित कर दें। भट्ट जी के उपन्यास शुद्ध भारतीय (हिन्दू) संस्कृति की परम्परा को अक्षुण्य बनाये रखने मात्र उद्देश्य-पूर्ति के परिणाम हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह कृत 'श्याम-स्वप्न' उल्लेखनीय है,[3] आचार्य शुक्ल के अनुसार प्राचीन संस्कृत के कवियों की पुराने ढंग की प्यारी बोली में देश की हरयाली को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होंने किया है, साथ ही भाव की प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव में और विक्षेप को अंकित करने वाली

1—सन् १८७९ ई० के हिन्दी प्रदीप में रहस्य कथा नाम से भट्ट जी की एक औपन्यासिक कृति प्रकाशित होनी प्रारंभ हुई थी। परन्तु बाद को वह पूरी नहीं हुई। इसके अतिरिक्त १८८६ ई० में 'नूतन ब्रह्मचारी' १८९० ई० में सौ अजान और एक सुजान प्रकाशित हुए। गुप्त वैरी, रसातल दक्षिण एवं हमारी घड़ी नामक उपन्यास भी भट्टजीने लिखने और प्रकाशित कराने प्रारंभ किये थे पर वे पूरे नहीं हो सके। वस्तुतः कथा-साहित्य उनकी प्रतिभा का वास्तविक क्षेत्र नहीं। उनके ये उपन्यास सामाजिक उद्देश्यों को लेकर लिखे गये हैं तथा कला की दृष्टि से अपरिपक्व हैं।
(डॉ० देवी प्रसाद अवस्थी, हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो, पृष्ठ ३५४)

2—श्री गुलाबराय, काव्य के रूप, संस्करण चतुर्थ।

3—आचार्य शुक्ल, इति०

एक की प्रलाप शैली भी इन्होंने निकाली जिसमें रूप-विधान का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्द विज्ञान का। यह उपन्यास चार खण्डों में संविभाजित है और इसमें प्रेम और कल्पना का संयोग हुआ है। पात्रों की सृष्टि में कल्पना का अंश इतना अधिक है कि उनका अस्तित्व सर्वथा स्थूलजगत् के सत्य से तटस्थ हो गया है। उपन्यास में आंचलिक बोली शब्द प्रयोग के कारण भावाभिव्यंजन में तीव्रता है। औपन्यासिकता तो इसमें नहीं है लेकिन प्रस्तुत प्रेम-कथा का आवरण ही उसे उपन्यास विकास में उल्लेखनीय बनाता है। स्वप्न संदर्भ में सम्पूर्ण कथा का विकास हुआ है। ठाकुर जगमोहन सिंह के इस उपन्यास में काव्यगत भावनातिरेक की प्रधानता अधिक है और अंक में १०८ पदों का विनय वर्णन भी उपलब्ध होता है। कोई-कोई समीक्षक जहाँ भी प्रेम-तत्व की प्रधानता देखते हैं, वे तुरन्त 'प्रेमाख्यान' शब्द का प्रयोग कर देते हैं, उन्हें मालूम होना चाहिए कि 'प्रेमाख्यान' एक पारिभाषिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है। 'श्यामा-स्वप्न' में प्रेमाख्यान शब्द प्रयोग अनुचित ही नहीं सर्वथा अज्ञानता का परिचायक है। डॉ० रवीन्द्र 'भ्रमर' के अनुसार 'श्यामा-स्वप्न' जगमोहन सिंह की प्रमुख गद्य कृति है। लेखक समसामयिक युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार अंबिकादत्त व्यास ने इस कृति को गद्य काव्य कहा है। स्वयं लेखक ने इसे गद्य प्रधान चार खण्डों की कल्पना कहा है। यह वाक्यांश इस पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर अंकित है।...... 'यह कृति वस्तुतः एक भावप्रधान उपन्यास है।' (हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो, सम्पादक—डॉ धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १८९)

राधाकृष्णदास (सन् १८६५- सन् १९१७) अपने समय के समाज सुधारक साहित्यकार थे। 'गोरक्षा' के सम्दर्भ में 'निःसहाय हिंदू' उपन्यास लिखा। इसमें हिंदू एवं मुसलमानों को धार्मिक साम्प्रदायिक दृष्टि से[1] देखकर उनके जीवनगत एवं समाजगत गुण-दोष का निरीक्षण-परीक्षण किया है। डॉ० भ्रमर के अनुसार इस पुस्तक में विषय-निर्धारण देशकाल तथा पात्र चित्रण की दृष्टि से आधुनिक यथार्थवाद की आरम्भिक झलक दिखलाई पड़ती है। इसके आधार पर यह कि राधाकृष्णदास में एक समर्थ उपन्यास लेखक की प्रतिभा थी किन्तु उन्हें उसे विकसित करने का समुचित अवसर नहीं मिल पाया।[2] इस उपन्यास के बारे में

1—हिन्दुओं के बारे में लिखते हुए वहां मुसलमानों को नहीं भूले हैं। उन्होंने साम्प्रदायिक और देशभक्त दोनों प्रकार के मुसलमानों का चित्रण किया है। —डॉ० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग, पृ० १३०।

2—हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृ० ४६६।

यह भी कहा जाता है कि वस्तु दृष्टि से यह शिथिल है एवं इसमें शृंखलाक्रम नहीं है। पात्रों की व्यक्तित्वहीनता है। डॉ० शर्मा 'राधाकृष्णजी की प्रतिभा में उपन्यासकार के तत्व की विद्यमानता मानते हैं और यह भी कहते हैं कि यदि उन्हें उचित अवसर मिलता है तो निस्संदेह वे प्रेमचन्द का पत्र पूर्व ही सुनिश्चित करते। इसमें दो राय नहीं कि उनमें औपन्यासिक प्रतिष्ठा थी क्योंकि उन्होंने जो सामाजिक पक्ष लिये थे वे सर्वथा युग-सापेक्ष्य थे और पूर्णतया वैचारिक थे। उन्होंने निर्धनता के रूप चित्रण में सफलता भी पायी। अपनी काया में यह लघु है।

उक्त उपन्यास-लेखकों के पश्चात् ही अनुवाद का लेखन तीव्र गति से होने लगा। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—हिन्दी में सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा प्रतिष्ठित करने के लिये बंगला के कुछ अच्छे चटपट अनुवाद करना आवश्यक दिखाई पड़ा।[1] इस सन्दर्भ में १. बाबू गजाधर सिंह, २. राधाकृष्णदास, ३. प्रतापनारायण मिश्र, ४. राधा चरण गोस्वामी प्रभृत लोगों ने पर्याप्त संख्या में बंगला के अनुवाद कार्य सम्पन्न किये। इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि या तो मौलिक उपन्यास लेखन में असफलता की ही प्रतिक्रिया में अनुवाद हुए या अनुवाद की सफलता में या प्रयत्न में मौलिक उपन्यास के सृजन की ओर कतिपय लोगों की रुचि प्रकट हुई। अनुवादों का मूल्य निर्धारित इतना ही किया जा सकता है कि औपन्यासिक प्रवृत्ति के लिये एक सुन्दर वातावरण बना और क्रमशः बौद्धिक चेतना के विकास के अनुकूल प्रवृत्ति भूमि निर्मित हुई।

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं, प्रथम मौलिक सृजन की प्रवृत्ति, द्वितीय अनुवादों द्वारा अन्य भारतीय भाषा के साहित्य की प्रवृत्ति का ज्ञान। मौलिक उपन्यास-सृजन में, बौद्धिक स्तर पर धार्मिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन हुआ जैसे—(नि:सहाय हिंदू), नैतिकता, चारित्रिक मूल्य की वृद्धि हेतु जातीय स्तर पर प्रयास हुआ (जैसे भट्ट जी के उपन्यास-नूतन ब्रह्मचारी एवं सौ अजान एक सुजान) सामाजिक समस्या के रूप में 'शिक्षाप्रद' सामग्री के प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ (जैसे लाला श्री निवासदास कृत 'परीक्षागुरु') एवं कल्पना

1—बाबू गजाधरसिंह के बंगला से अनूदित उपन्यास—१. 'ओथेलो', २. 'बंग-विजेता', ३. 'दुर्गेशनंदिनी', ४. वाणभट्ट कृत 'आनन्द-कादम्बरी' का बंगला से स्वतन्त्र रूपान्तर।

एवं प्रेम व्यंजना के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में भावात्मक गद्य-काव्य जैसे प्रवृत्ति का जन्म हुआ (जैसे — ठाकुर जगमोहनसिंह कृत श्यामा-स्वप्न) । यह स्पष्ट है कि उपन्यासों में प्राय: सभी प्रवृत्तियों की सभी दिशाओं को स्पर्श किया गया मैं समझता हूँ कि नाटक की भाँति उपन्यास भारतेंदु-युग में इसलिये व्यापक की दृष्टि से सफल हुआ कि उसका शिल्प (टेकनीक) हमारे उन प्राचीन प्रवृत्ति वाले लेखकों के लिये दुरूह था । नाटक बहुपरिचित विधा थी । 'कथा' सृष्टि की दृष्टि से हमें परिचित होने में कठिनाई नहीं थी । क्योंकि वह हमारे प्राचीन से बहुत कुछ विकसित रूप में उपलब्ध था । अतएव 'उपन्यास' को पूर्ण रूप से अपने संस्कारों से परिचित कराने में समय चाहिये था । स्पष्ट है कि मौलिक उपन्यास का सृजन एवं अनुवाद वस्तुत: एक-दूसरे को पूर्ति-विधान हेतु अनुपूरक हैं और अन्योन्याश्रित हैं अनुवाद से मौलिक-सृजन पथ आलोकित हुआ और मौलिक सृजन-के लिये अन्य भाषा-साहित्य के गुण तत्व प्राप्ति की इच्छा हुई । हरिऔध जी कृत 'ठेठ हिंदी का ठाठ' एवं अधिखिला फूल 'ठेठ हिंदी' का रीति या लक्षण ग्रन्थ है । 'ठेठ हिंदी' के समस्त गुणों को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया है । यही 'ठेठ हिंदी' हरिऔध जी द्वारा उनके उक्त दोनों उपन्यासों में व्यवहृत रूप पाकर सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्ष-दृष्टियों से सम्पन्न हुई और भाषा-गुण-रूप से प्रभावित होकर औपन्यासिक-प्रवृत्ति को आगे बढ़ने का सुअवसर मिला ।

काल्पनिक कथा-युग (१८९३-१९१३)

युग-विभाजन के सन्दर्भ में मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ कि भारतेन्दु-युग को सन् १९६३ से १८९३ तक स्वीकार किया जाना चाहिये क्योंकि नाटक के अतिशय लेखनभार के संमुख औपन्यासिक प्रवृत्ति को उभारने का अवसर इस युग में मिला ही नहीं । लेकिन भारतेन्दु युग की जो सम्पूर्ण उपलब्धि है, वह आदर्शवादी है, परम्परागत है और राष्ट्रीय-सन्दर्भ प्रधान है और युगीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्तर पर होने वाले विचार आंदोलनों के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति प्रधान है । साहित्य-लोचन के सम्मुख भाषा को कोई विशेष गति नहीं मिली, वैसे प्रयत्न के लिये भी प्रयत्न हुये लेकिन अभीष्ट साहित्य लेखन ही रहा । भारतेन्दु

मरता क्या न करता, स्वर्णलता (बंगला से)
राधारानी, इंदिरा, राजसिंहयुगलागुंरीय (बंगला से)
'जाबिजो', मृण्मयी, विरजा (बंगला से)

युग के सर्वथा आदर्शवादी होने के कारण भाषा के साथ उसका बलात्कार जैसा कार्य समझा जाना चाहिये क्योंकि भाषा परिपुष्ट हुई नहीं, प्रौढ़ता का अभाव रहा और उस पर साहित्यिक वाद-विवाद प्रस्तुत किये जाने लगे। भाषा की क्षमता से अधिक साहित्यिक बोझिलता थी। इस प्रकार यह सूक्ष्मतः देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी प्रवृत्ति-प्रधान उपन्यास भारतेन्दु-युग प्रवृत्ति से ताल-मेल नहीं खाते और इसी प्रकार द्विवेदी युग की आदर्शवादी प्रवृत्ति से भी। परम्परा के रूप में सभी प्रवृत्तियाँ आज भी विद्यमान हैं लेकिन उक्त प्रवृत्ति मूलतः सन् १८६३ से १६१३ तक विशेष प्रमुख रही। आचार्य द्विवेदी सन् १६०३ में सरस्वती संपादक हुये थे, उनके समस्त श्रम का प्रतिफल १६१३ के बाद ही प्रत्यक्ष हुये। इस प्रकार सन् १६१३ के बीच समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियाँ ऐयारी, तिलस्मी, जासूसी उपन्यासों के प्रचार के सन्मुख निस्तेज हो गयीं। प्रश्न यही है कि उक्त बीच वर्ष के समय को भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग के मध्य स्वतन्त्र रूप से युग बोध करेंगे तो भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग दोनों की, आदर्शवादी प्रवृत्ति की पवित्रता पर आघात पड़ेगा। द्विवेदी युगीन उपन्यासों की प्रवृत्तियों[1] में यदि हम देवकीनदंन खत्री, लज्जाराम मेहता, गोपालराम गहमरी, कार्त्तिक प्रसाद खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी के औप-न्यासिक प्रवृत्ति संदर्भ को देखते हुए भी रख देंगे तो ऐतिहासिक के साथ ही प्रवृत्ति से भी हम तटस्थ हो जायेंगे। डा० श्रीमती कृष्णा नाग ने अपने शोध प्रबंध में इन समस्त तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी उपन्यासकारों को द्विवेदी युग में प्रत्यक्षः रख दिया है, परिणामस्वरूप विभ्रम उत्पन्न होता है। श्रीमती नाग का कहना है—

'द्विवेदी-युग' के उपन्यासकारों में प्रमुख रूप से चार उपन्यासकारों के नाम लिये जायेंगे। किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और बाबू ब्रजनदंन सहाय, जिनके उपन्यासों में चार प्रमुख प्रकार प्राप्त हुये। घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान और कौतूहल प्रधान। यहाँ यह कहना ही यथेष्ट होगा कि द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति की प्रधानता में उक्त चारों लेखक नहीं आते। यदि आते हैं तो कैसे? यहाँ भी स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के संदर्भ में उन्हें युगबोध-तत्वों से सम्पन्न करके ही चेष्टा की है इसलिये प्रेमचन्द द्विवेदी-युग-प्रवृत्ति के एक सशक्त अधिवक्ता नहीं कहे गये और ये

---

1. हिन्दी उपन्यास की शिलपविधि का विकास, पृष्ठ १८५।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासकार द्विवेदी-युग के खाते में डाल दिये गये, इसलिये सन् १८९३ से १९१३ तक के समय को मैंने काल्पनिक-कथा-युग[1] नाम दिया है। काल्पनिक रूप में मौलिक उपन्यासों के सृजन के साथ अनुवाद कार्य भी पर्याप्त रूप में हुआ। इसी युग में हरिऔध जी ने ठेठ हिन्दी का ठाठ एवं 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास वस्तुतः उद्देश्य-पूर्ति से लिखे गये थे। यही कारण है कि प्रवृत्ति भेद के कारण एवं प्रवृत्ति दृष्टि से मैंने हरिऔध जी के समग्र-कृतित्व संदर्भ में संधि का लेखक कहा है। काल्पनिक-कथा-युगीन मौलिक सर्जनों में अधिकांशतः अनुवादक-व्यक्तित्व भी रखते हैं।

इस युग-प्रवृत्ति की विशेषता है कि इसमें जो ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये लेकिन 'नाममात्र' के ऐतिहासिक हैं क्योंकि उनमें लेखकों ने इतिहास की ओट में तिलस्मी, ऐयारी और प्रेम-प्रसंगों की ही अवतारणा की।[2] डा० लाल के कथन के प्ररिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है। कि उस समय के उपन्यास-लेखक रहस्यमूलक काल्पनिक संदर्भों के आश्चार्य एवं कुतूहल के संसार में ही भ्रमण कराना अभीष्ट मानते थे।

उपन्यास-सृजन में तिलस्मी प्रवृत्ति के प्रवर्तक श्री देवकीनदंन खत्री माने जाते हैं। विद्वानों के अनुसार यही प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं जिनके उपन्यास संतति (सन् १८८८), नरेन्द्र मोहिनी (१८९३), वीरेन्द्र वीर (१८९६) वीरेन्द्र वीर (१८९६), कुसुम कुमारी (१८९९) काजर दृष्टि की कोठरी (१९०३), अनूठी बेगम (१९०५), भूतनाथ, ९ भागों में

1—भारतेंदु का जन्म संवत् १९०७ (सन् १८५०) में हुआ और मृत्यु संवत् १९४२ में। उनका रचनाकाल १९२० में रखा जाना चाहिये, तब से लेकर मृत्यु के आठ वर्ष आगे तक अर्थात् संवत् १९५० तक भारतेन्दु युग समय निर्धारित किया जा सकता है। संवत्१९८० से संवत् १९७० (सन् १८६३ से १९१३) के बीच देवकीनदंन खत्री, कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्याप्रसाद व्यास आदि ने ऐयारो, तिलस्मो के डाकेजनी, जासूसी उपन्यास लिखे। वास्तव में साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं। संवत् १९५० (सन् १८९३) से संवत् १९७० (सन् १९१३) के बीच इस साहित्य को यदि भारतेन्दुयुग या द्विवेदी में रखें तो दोनों को साहित्यिक पवित्रता नष्ट होगी, इसलिये इस बीस वर्ष के समय को मेरा सुझाव है कि काल्पनिक कथा-युग कहा जाय। (सप्तसिंधु में प्रकाशित व आकाशवाणी से प्रसारित वार्ता से।)

2—डा० श्रीकृष्णलाल आधुनिक हिन्दी साहित्यः १९००-२५, पृष्ठ ३०२।

(१६०६) गुप्त गोदान (१६०६) आदि[1] उपन्यास कुतूहल, रोचकता की दृष्टि से अद्वितीय माने गये। कल्पनाश्रयी कथा-सृष्टि में खत्री जी के उपन्यास जीवन एवं समाज के यथार्थ सत्य से कोसों दूर थे। प्रेम प्रसंगों के संदर्भ निरूपण के निमित्त भी उन्होंने जीवन-तथ्य की भूमि स्वीकार नहीं की। खत्री जी के इन तिलिस्मी ऐयारी उपन्यासों में कुछ सामान्य 'कथानक-रूढ़ियों' का पालन किया जाता है। कथानक किसी कुलीन राजकुमार और राजकुमारी के सम प्रेम को लेकर अग्रसर होता है। क्रूर निष्ठुर प्रतिनायिका व्यवधान उपस्थित होता है। इन क्रूर पत्र पात्रों के हेर-फेर में पड़कर नायक और नायिका प्रायः किसी तिलस्म में फंस जाते हैं। इन तिलस्मों की रचना पेचीदी और जटिल होती है। उनमें अपार संपत्ति छिपी रहती है। इन तिलस्मों के तोड़ने का व्यौरा नामक पोथी में लिखा रहता है। भाग्यवश यह पोथी नायक को प्राप्त होती है और इसे पढ़कर वह तिलस्म तोड़ने में सफल होता है।[2] इस प्रकार की प्रवृत्ति से सम्पन्न कथानक रूढ़ियों के विकास की दिशाएं प्रगतिशील हुई हैं। कथानक का ताना-बाना बुनने की कुशलता खत्री जी की अपनी कुशलता थी। जहाँ तक साहित्य-बोध का प्रश्न है, वहाँ तिलस्म ऐयारी उपन्यास सर्वथा शून्य हैं और पाक मन को रहस्य के अद्भुत लोक में भ्रमण कराना ही इनके अभीष्ट की प्रति-विधान है। आकस्मिक घटनाओं के संदर्भ में आश्चर्य मिश्रित कथा-सृष्टि करने में ये अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि रखते थे। प्रो० तिवारी के कथा में पूर्ण सत्यता है कि 'इनमें न सूक्ष्म वैज्ञानिक और यथार्थ चरित्रांकन ही होता है, न रमणीय भाव-रस का विधान ही।[3] खत्री जी के उपन्यासों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में डॉ० गुलाबराय का मत दृष्टव्य है—'हिन्दी के प्रारंभिक काल में काल रुचि की भाँति लोक रुचि कौतूहल और तिलस्म की ओर अधिक थी। उसमें आजकल का सा उतावलापन भी नहीं था। अध्ययन और लेखक का एक, मात्र उद्देश्य था, कौतूहल, तृप्ति द्वारा मनोरंजन। इस प्रवृत्ति की तृप्ति के लिये बाबू देवकीनदंन खत्री का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।[4] खत्री जी के साथ ही लज्जाराम मेहता, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने भी इसी प्रवृत्ति को अग्रसर करने में अपनी औपन्यासिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

1—उक्त तिथियों का विवरण हिन्दी साहित्य प्रवेश, पृष्ठ २४५, से प्राप्त हुआ है।

2—श्री रामचंद्र तिवारी, साहित्य कोश, भाग दो पृष्ठ, २४५।

3—श्री रामचंद्र तिवारी, हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो, पृष्ठ २४५।

4—काव्य के रूप, पृष्ठ १८६।

किशोरी लाल गोस्वामी (जन्म १८६५-१९३२) भारतेंदु-युग से भी संपर्क रखते थे लेकिन भारतेंदु-युग की युगीन प्रवृत्ति में सामाजिक, राष्ट्रीय भावना का प्रतिबिम्ब होता है वह गोस्वामी जी की रचनाओं में नहीं है। आपका कथा-साहित्य में विशेष योगदान[1] है। गोस्वामी जी मुख्यतया रचना-समय उनका अपना काल्पनिक कथा-युग (सन् १८९३-१९१३) ही रहा न कि द्विवेदी युग। गोस्वामी जी ने तिलस्मी,ऐयारी प्रवृत्तियों के साथ-साथ इतिहास संदर्भ में सामाजिक भावानुभूतियों को भी प्रस्तुत किया है। 'तारा' (सन् १९०२) की भूमिका में गोस्वामी जी ने अपनी अनुदृष्टि को स्पष्ट किया है कि हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं कल्पना के आगे ऐतिहासिक घटनाओं को दूर से नमस्कार कर दिया है। इस कथन से स्पष्ट है कि इतिहास-सत्य में प्रस्तुती करण में उनका उतना अनुराग नहीं जितना कि कल्पना को सजीव रूप देने में। ऐतिहासिक उपन्यास को भी किंचित् अन्शों में वे प्रस्तुत कर सके। उन्होंने मुसलमान नवाब या बादशाह के युग-इतिहास को ही लिया है बल्कि उसके वातावरण को प्रमुखता दी है जिसमें सत्य के स्थान पर कल्पना मुखर हो गयी है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में रोमांस है जिनमें वासना है जबकि खन्ना जी में वासना नहीं है। यह भी कहना होगा कि गोस्वामी जी में यदा-कदा हिन्दू जातीय स्तर का मर्यादावादी आदर्शवादी का भी स्वरूप उभरा है। गोस्वामी जी में एक ओर ऐयारी तिलस्म है, दूसरी ओर रूप-वासनाजन्य-प्रणय-व्यवसाय है, तीसरी ओर इतिहास के युगीन वातावरण की पृष्ठभूमि में कल्पना का संयोग है और चौथी ओर हिन्दू-जातीय गौरव-प्रतिष्ठा का भी

---

1. गोस्वामी जी की कृतियाँ-त्रिवेणी (शन् १८८८), स्वर्गीय कुसुम कुमारी (सन् १८८९) प्रणयिनी परिणय (सन् १८८०), लवंग लता व आदर्श वाला (सन् १८९०). सुखशबरी (सन् १८९१), कलावती, प्रेममयी, (सन् १९०१) राजकुमारी, तारा (सन् १९०२), चपलाव नव्ये समाज चित्र, कलक कुसुम व मस्तानी (१९०३), हीराबाई की वेहयायी, बाटिका चंद्रिका व जड़ाऊ चम्पाकली (१९०५) कटे मूड़ की दो-दो बातें या तिलस्मी शीशमहल (१९०५) या कुती या यमज सहोदरा (१९०६) जिंदे लाश (१९०६) आदि। (शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी विश्व-कोश, भाग-२ (पृष्ठ ८६)।

प्रयत्न है। निस्संदेह समाज-बोध के वस्तु-रूप का उद्‌घाटन सही माने में गोस्वामी जी द्वारा सम्पन्न हो जाता है।

गोपालराम गहमरी (सन् १८६६-१९४६) का भी रचना-समय वस्तुतः काल्पनिक कथा युग में ही (सन् १८९३) शुरू हो जाता है। गहमरी जी ने एक ओर अनुवाद किये और दूसरी ओर मौलिक उपन्यासों का सृजन किया। आपने दो सौ से अधिक उपन्यास लिखे। गहमरी जी को 'हिन्दी का कानन डायल'[1] कहा जा सकता है। गहमरी जी के उक्त दोनों प्रकार (अनुवाद एवं मौलिक)[2] के प्रयत्न से उपन्यास में चरित्र-चित्रण विधान को शिल्पगत विकास के निमित्त एक सशक्त जीविका मिली। साहित्य स्तर बोध की दृष्टि से गहमरी जी का प्रयत्न नगण्य स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी बुद्धि वैभव के संदर्भ में प्रस्तुत 'सनसनीखेज' घटनाओं का क्रमबद्ध संकलन आगे लिखे जाने वाले उपन्यासों के लिये भी उपलब्धि है। हत्या, डकैती, चोरी की प्रवृत्तियों में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टियों का विकास करके उन्होंने कथानक को एक मजबूत आधार दिया।

लज्जाराम मेहता (सन् १८६३) के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन है कि वे मूलतः 'अखबार नवीस' हैं।[3] लेकिन 'धूर्त रसिक लाल' स्वतन्त्र रम्भा नामक दो उपन्यास विचारणीय है। मेहता जी सामाजिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा को लेकर चले हैं लेकिन वस्तुशिल्प के विकास के अभाव में उनके उपन्यासों की विशेष प्रतिष्ठा नहीं है।

---

1. हिंदी साहित्य कोश, रा० चं० ति०, पृष्ठ १३७।
2. गहमरी जी को अनूदित उपन्यास—चतुर चंचला (१८९३ ई०), भानुमती (१८९४ ई०), नये बाबू (१८९४), नेमा (१८९४) सास पतोहू (१८९९) बड़ा भायी (१९००), देवरानी-जेठानी (१९०१), दो बहिन (१९०२), तीन पतोहू (१९०४)। मौलिक उपन्यास-अद्‌भुत लाश (१८९६), गुप्तचर (१८९९), बेकसूर को फाँसी (१९००) सरकती लाश (१९००), खूनी कौन (१९००), बेगुनाह का खून (१९००), जमुना का खून (१९००), डबल जासूस (१९००), मायाविनी (१९०१), भयंकर चोरी (१९०१) भोजपुरी का ठगी (१९११), गुप्त भेद (१९१३), जासूस का ऐयारी (१९१४) आदि। (रा० चं० ति० पृ० १३७, हि० सा० कोश, भाग दो)
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५०१

उक्त ऐयारी- तिलस्मी जासूसी प्रवृत्तियों में जो भी विषयवस्तु थी वह द्विवेदी-युगीन प्रवित्त से सर्वथा-अलग अस्तित्व रखता है। गहमरी जी में जासूसी प्रवृत्ति प्रमुख है और हत्या, चोरी-डकैती करने वाले समाज के विकृत पात्र हैं जिनके लिये जासूसी संदर्भ में साहसिक-मनोवृत्तियों को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। भौतिक जगत के सत्य या यथार्थ से बहुत दूर ले जाकर खत्री जी ने समाज-जीवन को फेंक दिया। इसी प्रकार विभिन्न प्रकारों को किशोरी लाल गोस्वामी जी ने सामंजस्य रूप दिया लेकिन उनमें प्रमुखता थी—ऐयारी तिलस्मी की ही। इस दृष्टि से भी उक्त प्रवृत्ति वाले लेखकों को कैसे द्विवेदीयुग के आदर्शवाद 'के संदर्भ में फिट' किया जा सकता है।

इतना लाभ हुआ कि उपन्यास उक्त प्रवृत्ति में 'शिल्प को एक नया स्वरूप-विकास हुआ। भाषा में अभिव्यंजनात्मक विकास हुआ, कथानक को सामाजिक ढाँचे में ढलने के दिये इनमें सुविधा मिली। उपन्यास-टेकनीक विकास में काल्प-निक-कथा-युग के उपन्यास स्थान के अधिकारी हैं।

द्विवेदी युग—द्विवेदी जी सन् १९०३ में सरस्वती के संपादक हुये थे। द्विवेदी जी सन् १९२० तक सम्पादक रहे। वे जब जब सम्पादक हुए तो ब्रज भाषा की काव्य परम्परा अक्षुण्य बनाये रखने का भी प्रयास जारी रहा, ऐयारी तिलस्म-जासूसी उपन्यासों के लेखक का बोलबाला था। सर्वप्रथम खड़ी-बोली में ही साहित्य-सृजन की प्रेरणा उहोंने दी और भाषा संस्कार में शुद्ध और परिष्कृत रूप पर भी आग्रह किया। कल्पना से मुक्त साहित्य द्वारा समाज एवं जीवन को इतिवृत्त के संदर्भ में उन्होंने आदर्शवाद की संयोजना की समाज को रूढ़िग्रस्त संस्कारों से मुक्ति पाने के लिये उन्होंने साहित्यकारों में चेतना एवं विश्वास उत्पन्न कराया, फलतः समकालीन, सनातनधर्मियों एवं आर्य समाजियों के परस्पर संघर्ष की पृष्ठभूमि पर द्विवेदी जी का समाज-बोध विक-सित होकर उनके युगीन साहित्यकारों में व्यक्त होने लगा, एक दिशा-पथ का अवबोध हुआ। तिलस्मी, ऐयारी उपन्यासों की प्रवृत्ति वैसे आज भी है लेकिन द्विवेदी जी ने उक्त प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं दिया क्योंकि उसमें मात्र मनोरंजन की प्रधानता थी और वह शिक्षाप्रद नहीं था। द्विवेदी जी द्वारा अभिज्ञापित युग किसी भी रूप में अपनी प्रवृत्ति को स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ यह भी कथन होगा कि द्विवेदीयुग की प्रवृत्ति भिन्न से प्रवृत्ति औपन्यासिक कृतियों में प्रगट हुई—कौशिक,, प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, वृंदावनलाल वर्मा (उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में) आदि द्वारा। इन्हें 'प्रेमचन्द-युग' में नहीं

बल्कि द्विवेदी के अन्तर्गत रखा जाना चाहिये। समकालीन औपन्यासिक रचना प्रवृत्ति में उक्त लेखकों ने प्रभाव द्विवेदी-युगीन प्रवृत्ति से ही प्राप्त किया था। द्विवेदी-युग के श्रेष्ठतम उपन्यासकार थे—प्रेमचन्द। उपन्यास में प्रेमचन्द के माध्यम से द्विवेदी-युग प्रवृत्ति अभिव्यक्ति पा सकी।[1] इसलिये 'प्रेमचन्द-युग' कहकर वही गलती होगी जैसे समालोचना के संदर्भ में आचार्य शुक्ल-युग कहकर गलती का विश्लेषण मैं कर चुका हूँ। मेरे कथन का आशय है यदि विधाओं में द्विवेदी-युग के प्रमुखतम लेखकों के नामकरण रख देने की शोध-प्रवृत्ति का परिचय दिया गया तो द्विवेदी-युग की क्या आवश्यकता होगी? द्विवेदी-युग वस्तुतः समाज विधाओं में प्रस्तुत स्थूल उपदेशपरक आदर्शवाद के संदर्भ में एक संपूर्णता-बोधक नामकरण है। उसे पृथक-पृथक करके देखने से और उसी युग के प्रमुख लेखकों की प्रमुखता स्थापित करने की उद्देश्य पूर्ति से विलुप्त एवं अर्थहीन बनाने की चेष्टा होगी।

प्रेमचंद सन् १९१६ में हिंदी क्षेत्र में आये। उनके माध्यम से उपन्यास को सर्वप्रथम सामाजिक बोध का एक नया आदर्शवादी संदर्भ मिला। गोदान के परिप्रेक्ष्य वर्ग संघर्षमूलक संदर्भ में आर्थिक शोषण का परिप्रेक्ष्य सन् १९३६ में पिछली कृतियों से भिन्न रूप में यथार्थवाद के संदर्भ में उपस्थित हुआ।[2] सन् १९१६ से ३६ (गोदान से पूर्व उपन्यासों से) तक की प्रेमचंद की औपन्यासिक कृतियों में द्विवेदी-युग की मूल संदर्भ में ही व्यक्त रहा। संभव है, विद्वान असहमत हों। क्या द्विवेदी को इतना ही समझा जाय कि इत्ति-वृत्तिमूलक आदर्शवाद में ही नहीं सिमटा हुआ है। प्रेमचंद के उपन्यासों के माध्यम से जो आदर्शवाद प्रतिष्ठित हुआ, वह मूलतः उन्हें द्विवेदीयुग के पृथक् नहीं बल्कि द्विवेदी-युग से सम्बद्ध करता है। उनके यथार्थवाद का विकास आधार भी

1—द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचन्द जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला।

—नन्द दुलारे वाजपेयी, हि० सा० बीसवीं शताब्दी पृष्ठ, १२।

2—जैनेन्द्र जी का यह कहना शत-प्रतिशत सही है कि प्रेमचंद जी केवल हिंदी जगत के नहीं, संसार के लेखक थे। उनकी महत्ता का रहस्य है कि आदर्शवाद की मान्यता रखते हुए वे सच्चे यथार्थवादी थे। उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' पूर्ण आदर्शवादी है और अंतिम उपन्यास गोदान, पूर्ण यथार्थवादी। —गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' साहित्य वार्ता

आदर्शवाद ही है । सेवा सदन (१९१८) वरदान (१९२१), रंगभूमि, निर्मला, प्रेमाश्रम, गबन आदि उन्यास द्विवेदी-युगीन प्रवृति उस समय तक व्यवहृत हो सकता है जब व्यक्तिवादी उपन्यासों का सृजन जैनेन्द्र द्वारा सर्वप्रथम हुआ। इसलिये उपन्यासों के युग विभाजन की दृष्टि से विद्ववेदीयुगीन १९३० तक माना जाना चाहिये ।

प्रेमचंद ने उपन्यास को कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत मनोरंजन अभीष्ट से मुक्त कर समाज और जीवन के अध्ययन को प्रस्तुत किया । वे उपन्यासकार हैं जिन्होंने सर्वप्रथम समाज की दृष्टि से जीवन और जीवन की दृष्टि से समाज को देखापरखा । कहने का आशय है कि समाज की परम्परागत रूढ़ियों के बीच जीवन की विवशता किन रूपों में व्यतीत होकर गतिशील होती है और जीवन की दृष्टि से समाज के विश्वास एवं परंपरा के क्या गुण-दोष हैं, दोनों का संश्लेषण-विश्लेषण किया । मेरा कहने का आशय है कि समाज और व्यक्ति का स्थिति ज्ञान उनके ही उपन्यासों से होता हैं । जहाँ समाज के पक्षों की आलोचना है, वहाँ व्यक्ति का यथार्थ सामने है और जहाँ व्यक्ति का सूक्ष्म अध्ययन है वहाँ समाज का आदर्श, अभीष्ट हो जाता है । आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (गोदान) का यही भावार्थ है कि व्यक्ति के यथार्थ की आदर्शवादी दिशागत प्रगति । आदर्शवाद की प्रतिष्ठा के लिये यथार्थवाद पृष्ठभूमि है । उसी प्रकार वे गोदान से पूर्व उन उपन्यासों में यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहे जाते हैं ।

प्रेमचंद भारतवर्ष के उपेक्षित ग्राम्य जीवन के चित्रकार हैं । उनके चित्र में शिल्पी का रूप परिलक्षित है, क्योंकि जो भी जीवनगत भावनात्मक; संवेदनात्मक एवं समाजगत यथार्थ है उन्हें वे मूर्त रूप में सजीव रेखा-रूप दे सके हैं । प्रेमचंद ने उपन्यास को वस्तु के संदर्भ में एकरूपता, क्रम, संयोजना, दी और कल्पना-सत्य को भी संभावित किया । वस्तु में समाज और व्यक्ति दोनों का आदर्शवादी एवं यथार्थवादी पक्ष संतुलित करके रखा ।

मैं समझता हूँ कि प्रेमचंद द्वारा समाज और व्यक्ति दोनों पक्ष क्रमशः आये समाज के परिप्रेक्ष्य में वैचारिक अध्ययन की प्रवृत्ति प्रधान धारा विभिन्न रूपों में गतिशीलता रही, लेकिन व्यक्ति के संदर्भ में एक नयी प्रवृत्ति स्वतंत्र रूप से विकसित हुई ।श्री जैनेन्द्र कुमार जी द्वारा व्यक्ति पक्ष का स्वतंत्र विकास प्रेमचंद में नहीं हुआ था बल्कि व्यक्ति समाज के संदर्भ में था । काव्य में जैसे छायावाद विकसित हुआ, उपन्यास में प्रायः वही प्रवृत्ति व्यक्तिवाद के परिप्रेक्ष्य में मनो-

विज्ञान के संदर्भ में विकसित हुई। जैनेन्द्र जी और इलाचंद्र जोशी दोनों का रचनाकाल क्रमशः परख और घृणामयी उपन्यास के प्रकाशन, सन् १९२९ से, एक समय से ही आरंभ होता है। इलाचंद जी आरंभ में शरतचंद्र से प्रभावित हुए। जैनेन्द्र जी सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोही-भावना रखने के उद्देश्य को आरम्भ में लेकर चले। परंतु दोनों औपन्यासिकों में मनोविश्लेषण की प्रधानता रही, दोनों व्यक्ति भावना, व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति यथार्थ को लेकर चले; वैसे शुरू में व्यक्ति का सही रूप नहीं रख सके थे। यही कारण है कि व्यक्ति मुखर जैनेन्द्र एवं इलाचंद जी दोनों मनोविश्लेषणवादियों की दार्शनिक मान्यताओं के अन्तर्गत अपने को स्वीकृति देते गये। जैनेन्द्र व्यक्तिवादी होते हुये भी 'मनोविश्लेषण को शैली रूप में स्वीकृति देते हुये निष्कर्ष में शुद्ध दार्शनिक धुरी पर आ गये। इलाचंद जी मनोविश्लेषण में दार्शनिक जैनेन्द्र के अनुपात में कम ही रहे।

जैनेन्द्र ने कहानियां तो लिखी हैं, परख (सन् १९२९) सुनीता (सन् १९३५), त्यागपत्र (सन् १९३७), कल्याणी (सन् १९३९), सुखदा (सन् १९५३), विवर्त, सन् (१९५३), व्यतीत (सन्१९५३) आदि प्रकाशित हुये। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में नायिका की प्रधानता है, यदि कहा जाय कि उनके उपन्यास नायिका-प्रधान हैं तो अनुचित न होगा। उनके उपन्यासों में दार्शनिक बोझिलता है, आध्यात्मिक विचारों का पुट रहता है। जैनेन्द्र जी के पात्रों में आत्म-संशोधन, आत्म-पीड़न, पश्चाताप, प्रायश्चित भावना है जिसके परिणामस्वरूप वे अपने अंतर का परिवर्तन करते हैं, विकास करते हैं। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में पात्रों का बाहुल्य नहीं और वे अपनी स्वयं को आन्तरिक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात, अर्न्तद्वन्द्व के मध्य व्यतीत होकर अपने मंतव्य पर पहुँचते हैं। जैनेन्द्र जी स्त्री पात्रों में आंतरिक जगत के सूक्ष्म ऊहापोषक हैं। उनके पात्रों में बहिर्मुखीनता है जहाँ वे सशस्त्र-क्रांति जन्य परिस्थितियों के चित्रकार बनते हैं, उसी वातावरण में नारी के अहम्; यथार्थ-संस्कार, प्रेम संस्थिति आदि के विश्लेषण में वे सफलता प्राप्त करते हैं।

व्यक्तिवाद की स्वीकृति में रोमांस, आत्मपलायन के संदर्भ में फ्रायडंत्र ऐडलर, जुग का वैचारिक प्रभाव व्यक्तिवादी उपन्यासकारों पर अत्यधिक रहा। फ्रायड मनोविश्लेषण के प्रवर्तक व्याख्याता हैं। उनका मनोविश्लेषण यौन-संबंध पर विशेष रूप से आधारित हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य के अंतःश्चेतना मूलक इच्छाओं का अभिव्यक्ति ही कला है और धर्म भी है। इस

प्रकार काम ही कलात्मक सृजन का प्रेरक और उद्भावक है। अतएव फ्रायड की इस मान्यता के अंतर्मन के यथार्थ का उद्घाटन कला का मान बना।

ऐडलर एवं जुंग ने फ्रायड की मान्यताओं के संदर्भ में पृथक मान्यता के संदर्भ में पृथक मान्यता की उद्भावना की। ऐडलर ने काम के स्थान पर अहम् को महत्व दिया। मानव स्वभाव को विशेषताओं में सूक्ष्म प्रेरक तत्व हैं, उनमें निहित अहम् और उसकी स्थापना का प्रयत्न। अहम् के माध्यम से ही मनुष्य में विभीषिका रहती हैं और समाज, व्यवसाय, विवाह आदि व्यवहार क्षेत्रों में अहम् की अपूर्ति ही कुण्ठा को जन्म देता है। अहम् की अपूर्ति में 'दमन' की प्रतिक्रिया है मनुष्य स्थितहीनत्व की भावना। इस प्रकार ऐडलर की मान्यता ग्रंथि से संबंधित हैं। यदि मनुष्य अहम् को तृप्ति की स्थिति नहीं पाता तो निश्चय ही उसमें मानसिक प्रतिक्रियाएँ होंगी जो उसमें कुण्ठाओं को जन्म देकर प्रकृत में विकृत बना देंगी।

जुंग व फ्रायड के 'काम' और ऐडलर की अहम्-स्थापना दोनों में समन्वय करके चला है। मनुष्य अंतर्मुखी है वे भावना प्रधान होते हैं, जो बहिर्मुखी हैं, सामाजिक व्यवहार पालक होते हैं। जुंग ने 'मनः शक्ति', 'अंतः चेतना' पर विचार किया है। व्यक्तिवादी उपन्यासकारों में जैसा कहा गया जैनेन्द्र के साथ इलाचंद जी विशेष रूप से स्थान पाते हैं। जैनेन्द्र जी आध्यात्मिकता की प्रधानता में मनोविश्लेषण के प्रतिमानों का सही स्वरूप नहीं दे सके जितना इलाचंद जोशी ने संन्यासी, पर्दे की रानी, प्रेत और छाया आदि में प्रस्तुत किया। इस क्षेत्र में तीसरा श्रेष्ठ नाम है—'अज्ञेय'। अज्ञेय कृत शेखरः एक जीविनी (दो भाग) व्यक्तिवादी उपन्यास के रूप में श्रेष्ठतम रचना है। व्यक्ति-यथार्थ का वस्तुतः सामाजिक आदर्श के प्रति विद्रोह की घोषणा अज्ञेय ने शेखरः एक जीवनी के मध्म से की। 'आत्म-कंपन' की शैली में मनोवैज्ञानिक --विश्लेषण के माध्यम से, 'एक व्यक्ति का अभिनवम निजी दस्तावेज है।' शेखर के माध्यम से मानसिक अंतर्द्वंद्व, व्यक्ति—यथार्थ, यौन जनित कुण्ठा को प्रधानता दी गयी है। अज्ञेय जी के इसी परंपरा में द्वितीय कृति है—नदी के द्वीप।

मैंने हिन्दी उपन्यास के विकास युगों के विभाजन में 'व्यक्तिवादी-युग' का नामकरण इसलिये रखा है कि सामाजिक आदर्शवाद के स्थूल के प्रति हुये व्यक्तिवादी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत मानसिक, अंतश्चेतन, मनोविश्लेषण प्रभाव यथार्थवाद का विद्रोह सन् १९२९ से (परख के प्रकाशन से) सन् १९४० तक (शेखरः एक जीवनी के प्रकाशन तक) प्रधान रूप में काव्य में छायावाद के साथ

अभिन्तः अभिव्यक्त होता रहा । छायावाद के अतृप्ति, काम वासना, पलायन, आत्मसंघर्ष, ऐकान्तिकता कुण्ठा के मानवीयकरण के माध्यम से अभिव्यक्ति दी गयी और वही वस्तु मनोविश्लेषण के संदर्भ में उपन्यास में अभिव्यक्त हुई । परम्परा के रूप में व्यक्तिवादी-प्रवृत्ति आज भी जीवित है ।

प्रेमचंच ने सामाजिक आदर्शवाद के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-यथार्थ की स्थति का बोध कराया था । व्यक्ति-यथार्थ की प्रधानता होने पर सामाजिक समस्या मूलक उपन्यास वैसे लिखे जाते रहे, लेकिन सन् १९४० के बाद पुनः सामाजिक-उपन्यास का लेखन व्यक्तिवादी उपन्यासों के लेखन के साथ-साथ होता रहा, इसीलिए मेरे अनुसार सन् १९४० के बाद उपन्यासों के लिये सामाजिक-व्यक्ति-वादी उपन्यास युग कहना भी उचित ही है । व्यक्तिवादी प्रवृत्ति फ्रायड ऐडलर, जुंग आदि से प्रभावित अभी तक उसी रूप में गतिशील है जबकि सामाजिक समस्याओं पर वैचारिक उपन्यासों के लेखन की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ प्रथम रूप में वर्गीकृत हुई—प्रथम प्रगतिवादी, द्वितीय गांधीवादी ।

सन् १९४० के बाद काव्यवाद को विशेष रूप से महत्त्व मिला था और यह उपन्यास में 'गोदान द्वारा प्रवर्तित होकर श्री यशपाल, उपेन्द्र नाथ अश्क आदि द्वारा महत्त्वपूर्ण बना । मार्क्स द्वारा प्रवर्तित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष, हिंसात्मक क्रांति, पूँजीवाद का विरोध आदि जैसे अनेक बहिर्मुखी सामा-जिक आर्थिक प्रश्नों के संदर्भ में यशपाल ने उपन्यास लिखे । सामाजिक-यथार्थ मध्यम-वर्ग की विषम स्थितियों का स्वरूपांकन-प्रवृत्ति, व्यंग्य, श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति, क्रांति-भावना, मानवीय संघर्षात्मक स्थिति की प्रधानता यशपाल के उपन्यासों 'दादा' 'कामरेड' 'देशद्रोही' (सन् १९४३) में मिलती है । इनमें भी सामाजिक स्तर पर फ्रायड के मनोविश्लेषण की 'रोटी और सेक्स' के संदर्भ में सामाजिक यथार्थ अश्क जी के उपन्यास 'गिरती दीवारें, 'गर्म राख, 'सितारों के खेल में मिलता है ।

सामाजिक उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में गांधीवाद का प्रभाव श्रीभगवतीशरण वर्मा कृत 'टेढ़े-मेढ़ रास्ते', जैसे उपन्यास में मिलता है । गांधीवाद वस्तुतः सामा-जिक भौतिकवाद के ठीक विरुद्ध आध्यात्मिक भावनाओं से संपन्न आत्म-संशोधन प्रधान भारतीय संस्कारों से युक्त था ।